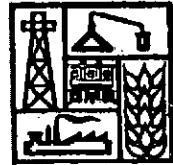


हॉलीवुड

स्वतंत्रता दिवस 95
विशेषांक



मूल्य : आठ रुपए

सिनेमा
और
समाज





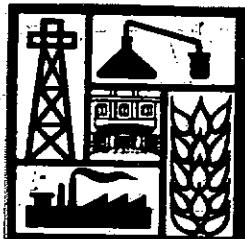
राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा नाना पाटेकर को 'क्रान्तिकीर' में उनके उत्कृष्ट अभिनय के लिए वर्ष 1994 का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता पुरस्कार प्रदान करते हुए



कब्रड़ फिल्म में मा. विजय राधवेन्द्र को वर्ष 1994 का सर्वश्रेष्ठ बाल कलाकार पुरस्कार प्रदान करते हुए
राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा

योजना

योजना और विकास को समर्पित भारत
के नव निर्माण की प्रमुख मासिक पत्रिका



वर्ष: 39 अंक 8

अगस्त, 1995

भाद्रपद शक संवत् 1917

प्रधान संपादक
देवेन्द्र भारद्वाज

सहायक संपादक
डा. रामदयाल बैदुली

उप-संपादक

अंजु

लिलिता खुराना

संपादकीय कार्यालय

कमरा नं. 538-ए, योजना भवन, ससद मार्ग,
नई दिल्ली-110 001

दूरभाष: 3710473, 3717910
3715481/2644, 2642,2319

इस अंक में

पृ. सं.

3. सिनेमा के सामाजिक सरोकार
7. समाज सुधार की जहम भूमिका में सिनेमा
11. फिल्म और सामाजिक विकास : हिन्दी सिनेमा पर एक नजर
15. भारतीय सिनेमा के आग्रह
21. वृत्तचित्र फिल्में और विकास
23. फिल्म सोसायटी आंदोलन
27. छोटे पर्दे पर सिनेमा
31. लोक से हटकर सिनेमा
37. सफलों के सौदागर
41. फिल्म निर्माताओं का प्रशिक्षण
43. फिल्म संस्कृति और भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार
45. सिनेमा का समाज पर प्रभाव : एक अध्ययन दिल्ली महानगर में
51. फिल्म निर्माण : मिथक और वास्तविकता
53. असमी सिनेमा : अतीत तथा वर्तमान
57. गुजराती सिनेमा : कल और आज
61. कन्नड़ सिनेमा : अतीत और वर्तमान
67. मराठी सिनेमा : कल और आज
71. उड़िया सिनेमा : कल और आज
75. तमिल सिनेमा : अतीत और वर्तमान
79. राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

फीरोज रंगनवाला
गौतम कौल
अनिल सारी

जगदोहन
तपन के बोस
विद्यार्थी चटर्जी
विकेन्द्रनन्द राय
रत्नोत्तम सेनगुप्ता
निकहत काजमी
जॉन टी. सी. शंकर मंगतम
सुरेश छावरिया

डा. सविता भाद्री

बी. बी. नागपाल
फानी तालुकदार
हंसमुख बंगड़ी
बी. एन. सुव्यासाव
सुधीर नंदगावकर
विभूति मिश्र
ए. बी. राजगोपाल
के. एल. अरेडा

यद्यपि 'योजना' सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित की जाती है तथापि यह मात्र सरकारी ट्राइकोण के प्रस्तुतीकरण तक ही सीमित नहीं है। 'योजना' हिन्दी के अतिरिक्त असमी, बंगला, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, भारती, तमिल, उड़िया, पंजाबी, तेलुगू तथा उर्दू में भी प्रकाशित की जाती है।

उप-निदेशक (उत्पादन)

के. आर. कृष्णन्

विज्ञापन प्रबंधक
योजनाधर राजभर

व्यापार व्यवस्थापक
अनिल दुर्गल

आवरण

एम. एम. मलिक

विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा पुस्तकालयों को प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने पर प्रतिशत की विशेष सूट दी जाती है। चंदा भारतीय पोस्टल आईडर/मनीआईडर अथवा बैक ड्राफ्ट द्वारा व्यापार व्यवस्थापक के नाम भेजें। नई सदस्यता के लिए भी निम्न पते पर संपर्क करें :

व्यापार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110 001 दूरभाष : 3387983

चंदे की दर:

वार्षिक: 50 रु.

सिनेमा और समाज

सिनेमा का ऐन्ड्रजलिक सम्मोहन वस्तुतः अथाह है। सिनेमाटोग्राफ के आविष्कारक आगस्त और लुई लुमियर ने शायद यह कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा कि एक दिन उनकी यह विशिष्ट खोज बीसवीं सदी की सबसे बड़ी सामाजिक काँति का मार्ग प्रशस्त करेगी। वास्तव में सिनेमा अपने अस्तित्व के लिए इन फ्रांसीसी भाइयों की प्रतिभा का ऋणी है जिन्होंने पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में सिनेमाटोग्राफ का आविष्कार कर भारत सहित विभिन्न देशों में इसके सफल व्यावसायिक प्रदर्शनों से दर्शकों को चमत्कृत कर दिया था। तदुपरान्त अनेक अग्रणी हस्तियों ने अपने अथक प्रयासों से सिनेमा को नए आयाम देकर उच्चतम सोपान तक पहुंचा दिया और आज यह कला, संस्कृति और मनोरंजन का एक अत्यन्त सशक्त माध्यम है।

सिनेमा ने अपने जादुई आकर्षण से ऐसा जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा कि इसके दर्शकों, प्रशंसकों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई और समूचे विश्व में इसकी धूम मच गई। इसने अपनी चामत्कारिक शक्ति से सभी भाषायी तथा भौगोलिक सीमाओं को आसानी से पार कर लिया। मानव मन पर इसका प्रभाव अत्यन्त गहरा और सर्वव्यापी था। इससे पूर्व मूलतः मनोरंजन के उद्देश्य से बने किसी भी अन्य माध्यम से इतने बड़े पैमाने पर सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन होते नहीं देखे गए। समय के साथ-साथ सिनेमा एक बड़े उद्योग के रूप में उभर कर सामने आया है और आज यह विश्व भर में लाखों लोगों की जीविका का साधन है।

सिनेमा ने अपने तीन मुख्य संघटकों कैमरा, सैल्यूलॉयड और सिनेमाटोग्राफ के माध्यम से सर्जनात्मकता के नए द्वारा खोले। यद्यपि निर्देशक ही अपनी कल्पना शक्ति एवं सूझ-बूझ के कारण सिनेमा का वास्तविक सर्जक है, सिनेमाटोग्राफर अपने कैमरे के माध्यम से प्रकृति और मानव की विभिन्न मनः-स्थितियों को सजीव ढंग से सैल्यूलॉयड पर उतारता है और संगीतकार एवं तकनीशियन आदि अपना-अपना बहुमूल्य योगदान करते हैं, किंतु भी दर्शकों की तालियां मुख्यतः उन नायक-नायिकाओं की झोली में आती हैं जो अपने व्यक्तित्व के आकर्षण से उहाँ सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। अतः यह कहना अतिशयोक्तिन होगा कि आम आदमी के लिए तो ये फिल्मी सितारे ही वास्तविक सिनेमा हैं। यद्यपि यह यथार्थ से परे है फिर भी दर्शकों का एक बड़ा वर्ग ऐसा ही मानता आ रहा है।

हमारे देश में भी सिनेमा को एक विशिष्ट स्थान मिला है। भारतीय सिनेमा भी लगभग उतना ही पुराना है जितना कि विश्व सिनेमा। इसका इतिहास न केवल लम्बा है बल्कि अपने में विशिष्टता समेटे हुए है। यदि इसका विवेचन एक उद्योग के रूप में किया जाए तो हम पाएंगे कि शायद ही किसी अन्य देश का फिल्म उद्योग हमारे देश के फिल्म उद्योग के समकक्ष है। हमारे यहाँ मूक चलचित्रों का निर्माण प्रथम विश्व युद्ध से पहले ही आरंभ हो गया था और तीस के दशक में तो हमने बोलती फिल्मों के द्वारा लोगों का मनोरंजन करना शुरू कर दिया था।

भारतीय फिल्म जगत में दादा साहेब फाल्के और अर्देशिर ईरानी जैसे दिग्जों ने जो रास्ता दिखाया था, उस पर बाद में कई प्रतिभावान और समर्पित फिल्म निर्माता चले। उनमें से कुछ ने तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अत्यधिक ख्याति हासिल की। विलक्षण प्रतिभा के धनी सत्यजित राय ने तो विश्व सिनेमा के मानचित्र पर भारत को विशिष्ट स्थान दिलाया। असाधारण प्रतिभा के धनी सत्यजित राय की जितनी प्रशंसा की जाए, योड़ी है। उनकी फिल्मों को विदेशों में जितनी सराहना मिली उतनी पहले कभी किसी भारतीय को नहीं मिली थी। हिन्दी सिनेमा के महान शो मैन राजकपूर ने भी विदेशों में विशेषकर रूप में अच्छी खासी धूम मचाई।

भारतीय फिल्मों की अनेक देशों में बड़ी भारी मांग है, विशेषकर पश्चिम एशिया और अफ्रीका में। भारतीय फिल्म प्रभाग द्वारा निर्मित वृत्तचित्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उच्च श्रेणी के माने जाते रहे हैं। इन्हें गत 45 वर्षों में अनेक बड़े पुरस्कार मिले।

निस्सदैह भारत एक बड़ा फिल्म निर्माता राष्ट्र है। हर वर्ष हम कई सौ फिल्मों का निर्माण करते हैं तथा इतनी ही बड़ी संख्या में छोटी फिल्में भी बनाते हैं। विश्व में कहीं भी इतनी अधिक भाषाओं और बोलियों में फिल्में नहीं बनती हैं जितनी कि भारत में। संख्या की दृष्टि से तो हमने अवश्य बड़ी प्रगति की है, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से भारतीय सिनेमा का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि अभी इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना बाकी है। दुर्भाग्यवश, गुणवत्ता की दृष्टि से हमारे देश में निर्मित उल्कृष्ट फिल्मों को अंगूली पर गिना जा सकता है जबकि उद्देश्यहीन फिल्मों की भरमार है। इतना ही नहीं फिल्मों में कामुक दृश्यों और हिस्सों की प्रवृत्ति भी अब निरंतर बढ़ रही है। इसे दृढ़तापूर्वक रोका जाना चाहिए। साथ ही वीडियो-चौरी को रोकने के लिए भी प्रभावकारी उपाय करने जरूरी हैं, क्योंकि यह हाल के वर्षों में हमारे फिल्म उद्योग की अर्धिक स्थिति के लिए अभिशप सांबित्र हुई है।

भारतीय सिनेमा का एक महत्वपूर्ण सकारात्मक पहलू है इसका राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने में योगदान। भारतीय फिल्में भले ही अप्रत्यक्ष रूप से किन्तु निरंतर राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव के आदर्शों को प्रस्तुत कर इन्हें बढ़ाने में अपना योगदान कर रही हैं।

निष्कर्ष स्वरूप, यह जरूरी है कि हमारे फिल्म उद्योग को सभी प्रकार से प्रोत्साहन दिया जाए ताकि एक प्रमुख फिल्म निर्माता राष्ट्र के रूप में हमारा स्थान बना रहे। इसके साथ ही यह भी स्वागत योग्य बात होगी कि फिल्म उद्योग स्वयं अपनी कमियों को दूर करने का प्रयास करे ताकि अधिक से अधिक स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने वाली फिल्में बन सकें विशेषकर बच्चों के लिए उद्देश्यपूर्ण फिल्में। इससे निश्चित रूप से भारतीय फिल्म उद्योग की प्रतिष्ठा न केवल अपने देश में वरन् विदेशों में भी बढ़ेगी। ■

सिनेमा के सामाजिक सरोकार

फीरोज़ रंगूनवाला

लेखक का कहना है कि राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के कुछ भाग का श्रेय फिल्मों को दिया जा सकता है क्योंकि फिल्मों के कारण भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि वाले लोगों के बीच सामाजिक गतिशीलता, मेलजोल और एकता का भाव पैदा होता है।

जब भी “सिनेमा और समाज” विषय पर चर्चा छिड़ती है सबसे पहला सवाल यह उठाया जाता है कि कल्पनाओं की उड़ानों पर आधारित पलायनवादी मनोरंजन प्रदान करने वाला सिनेमा क्या समाज को प्रभावित या परिवर्तित कर भी सकता है? सिनेमा पर गंभीरता से विचार करने वाले चिंतकों की जिनमें फिल्म निर्माता भी शामिल हैं, इस विषय पर दो तरह की विचारधाराएं हैं। पहली विचारधारा यह है कि फिल्में सामाजिक व्यवस्था अथवा समाज के अंदर होने वाले घटनाक्रम को बिल्कुल प्रभावित नहीं कर सकतीं। दूसरा मत यह है कि फिल्में सामाजिक गतिविधियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती हैं भले ही यह प्रभाव तत्काल दिखाई न दे।

पहली विचारधारा का विश्व भर के सभी अग्रणी फिल्मकार समर्थन करते हैं जिनमें भारतीय फिल्म निर्माता सत्यजित राय भी शामिल हैं। इसकी मिसाल यह दी जाती है कि दो-चार बढ़िया युद्ध-विरोधी फिल्मों के प्रदर्शन के तत्काल बाद ही मानवता को दूसरे विश्व युद्ध की विभीषिका झेलनी पड़ी। इसलिए इन लोगों की मान्यता यह रही कि सिनेमा लेखक अथवा निर्देशक द्वारा उठाई गई समस्या का फिल्म के विषय एवं प्रस्तुतीकरण के माध्यम से कोई समाधान पेश नहीं किया जा सकता और न ही उसे ऐसा करना चाहिए। समस्या को सामने लाना ही पर्याप्त है और सिनेमा का

कलात्मक दायित्व यहीं तक सीमित है। परंतु दूसरी विचारधारा के अनुसार सिनेमा की भूमिका इससे कहीं आगे तक जाती है जिसमें उसे समाज में चिंतन प्रक्रिया और कार्य करने की शैली को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे प्रेरित होकर दर्शक बेहतर परिवर्तन का प्रयास करें।

इस बात की जड़ तब पहुंचना कठिन है क्योंकि सिनेमा मानव मन (पुरुष एवं नारी) पर जो जादू चलाता है वह मुख्यतया सूक्ष्म, अस्पष्ट और अज्ञात होता है। दर्शकों की प्रतिक्रियाएं तथा उन पर प्रभाव का पता लगाने के लिए दर्शकों के अध्ययन तथा सर्वेक्षण की अन्य विधियां पूरी तरह विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि सिनेमागृह के अंदरे में दर्शक के भीतर से उठने वाली आंतरिक प्रतिक्रियाएं अत्यंत व्यक्तिगत होती हैं। इसलिए वे किसी गुप्त क्षेत्र में पड़ी रहती हैं। सर्वेक्षण से प्राप्त प्रतिक्रियाएं और निष्कर्ष मुख्य रूप से ऊपरी प्रभावों जैसे कि रहन-सहन के तौर-तरीकों, बाहरी आचरण पद्धतियों, वेश-भूषां, सामाजिक आदतों (धूम्रपान, शराब, जुआ आदि) या घटनाओं पर ताल्कालिक प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं, जिसमें अब टी. वी. महारत हासिल कर रहा है और ये निष्कर्ष ऊपरी स्तर के ही होते हैं, जिन्हें सिद्धांत के रूप में अपना लिया जाता है।

इसके बावजूद जिस तरह से पिछले 100

सालों से सिनेमा समाज के दर्पण के रूप में काम करता रहा है उसी तरह समाज में आ रहे परिवर्तन सिनेमा से प्रभावित होते रहे हैं। भले ही वे इतने स्पष्ट नहीं हैं कि उन्हें चिन्हित किया जा सके। सिनेमा और व्यक्ति अथवा समूह के रूप में दर्शकों के बीच निस्संदेह आदान-प्रदान हमेशा चलता रहता है। सिनेमा अपने स्वरूप में ही कार्यप्रियक है। यह दृश्य और श्रव्य चमत्कार तो पैदा करता ही है, इसमें भावनाओं, सम्बन्धों, परम्पराओं, धर्म, सेक्स तथा मानव चेतना तथा संवेदनाओं से जुड़ी सभी अच्छाइयों एवं बुराइयों का शोषण करने की अद्भुत क्षमता है। अच्छी फिल्म में यही काम कलात्मक, सौंदर्य शास्त्रीय तथा सार्थक ढंग से किया जाता है जबकि खराब फिल्म में यह बाजार के नियमों के हिसाब से किया जाता है।

अतः उसमें सशक्त लेकिन छिपा हुआ प्रभाव अवश्यम्भावी है, जिसका कुछ हिस्सा अनोखे रूप में सामने आता है। यह प्रभाव कभी-कभी स्वस्थ होता है जबकि कभी-कभी विकृत होता है। उदाहरण के लिए आप कभी शो समाप्त होने के बाद सिनेमा हाल से बाहर आने वाले लोगों के चेहरे, अंगों की हरकतों, चाल और आपसी बातचीत पर गौर कीजिए। एक श्रेष्ठ तथा प्रभावशाली फिल्म लोगों में संयत और सभ्य आचरण पैदा करती है। दूसरी ओर आम व्यावसायिक हिन्दी फिल्मों जैसी कोई घटिया फिल्म देखकर आने वाले लोगों

की हरकतें असंयत होंगी। यदि तात्कालिक और अल्पकालिक असर इस तरह का हो सकता है तो हम महसूस कर सकते हैं कि फिल्मों का गहरा और दीर्घकालिक असर कैसा होगा।

सिनेमा हाल के अंधेरे में अपनी छोटी-सी सीट पर बैठकर फिल्म देखने वाला दर्शक कैसे प्रभावित होता है, यह परस्पर सम्बन्धों की दृष्टि से देखा जा सकता है। चारों तरफ अनेक लोगों की मौजूदगी के बावजूद दर्शक उसी तरह “भीड़ में अकेला” होता है जैसे कि अभिनेता भीड़ से भरे सेट अथवा लोकेशन पर अपनी भूमिका के माध्यम से कुछ प्राप्त करने की कोशिश करता है। पर्दे और फिल्म देखे जाने की मनोदशा के बीच लगातार रासायनिक क्रिया जारी रहती है, जिसमें अन्य पक्षों, जैसे कि सिनेमाघर के कर्मचारियों, बीच-बचाव में बोलने वाले दर्शकों और अपनी आवाज या लेखनी से टिप्पणी करने वाले फिल्म समीक्षकों का कोई दखल नहीं होता, इसलिए प्रभाव तो निश्चित रूप से पड़ता है, चाहे अच्छा हो या बुरा।

फिल्मों की शुरुआत भी इस तथ्य का प्रमाण है। भारत में अच्छाई के प्रचार, दया, नैतिक उच्चता तथा अच्छे को बुरे से अधिक शक्तिशाली दिखाने, धर्म और पुराण के कारण कुछ अत्यंत सफल फिल्मों का निर्माण हुआ, जिससे फिल्म उद्योग की नींव पड़ी। दादा साहेब फाल्के ने आर. जी. टोर्नी द्वारा पुंडलीक की संतकथा पर व्याख्यात्मक कथाचित्र के निर्माण के बाद “लाइफ आफ क्राइस्ट” से प्रभावित होकर “राजा हरिश्चन्द्र”, “तंका दहन” तथा “कलिका मर्दन” फिल्में बनाई। तब से आज तक धर्म का असंख्य रूपों में इस्तेमाल होता रहा है, और सामाजिक विषयों पर फिल्म बनाने के समकालीन युग में भी यह सिलसिला जारी है। जाहिर है कि सिनेमा के उस सरल जीवन के युग में फिल्में ईमानदारी, बलिदान, वीरता तथा इसी तरह के अन्य सद्गुणों से प्रभावित थीं, जबकि रक्षक के रूप में उभरने के चमत्कार दर्शकों के सपनों का साकार करने वालों के रूप में काम करते थे।

आम लोगों की पसंद को ध्यान में रखकर बनने वाली बावस आफिस या व्यावसायिक फिल्मों में लोगों की बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों, लोकाचार तथा तौर-तरीकों से पैदा हुई आशाओं और आकांक्षाओं को भुनाने का क्रम आज तक जारी है, जब अधिकतर अपराध के रूप में चित्रित होने वाली बुराई की प्रशंसा, सम्मान तथा गुप्त रूप से पूजा तक होने लगी है। इसे असंतोष, अन्याय या सामाजिक बुराइयों के प्रति व्यक्तिगत प्रतिशोध बताकर उचित ठहराने की चेष्टा की जाती है ताकि जब कभी और कहीं भी आत्मा उभरे तो उसे शांत किया जा सके। वास्तविक जीवन तथा फिल्मों में बढ़ती हुई हिंसा का यही मूल कारण है लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि इस पर सामाजिक-राजनीतिक संगठन या सेंसर बोर्ड भी काबू नहीं पा सके हैं।

1930 तथा 1940 के दशकों में हिन्दी सिनेमा के स्वर्ण युग में ऐसी फिल्में बनीं, जिनमें ज्वलतं समस्याओं को न केवल प्रस्तुत किया गया, बल्कि उनके हल भी सुझाए गये। देश भर में सिनेमा के पर्दे पर लोगों को दिखाया गया कि मजदूर शक्तिशाली पूँजीपति से किस तरह टक्कर लेते हैं, एक लड़की बूढ़े के साथ विवाह का कैसे विरोध करती है। जीवन प्यार पर कैसे हावी होता है, बाहरी ताकतें उस संमय ब्रिटिश सत्ता और अब राजनीतिक माफिया किस प्रकार विभिन्न समुदायों के सद्भाव को मटियामेट करते हैं, किस प्रकार विधवाओं का-

सिनेमा मानव मन (पुरुष एवं नारी) पर जो जादू चलाता है वह मुख्यतया सूक्ष्म, अस्पष्ट और अज्ञात होता है। दर्शकों की प्रतिक्रियाएं तथा उन पर प्रभाव का पता लगाने के लिए दर्शकों के अध्ययन तथा सर्वेक्षण की अन्य विधियां पूरी तरह विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि सिनेमागृह के अंधेरे में दर्शक के भीतर से उठने वाली आंतरिक प्रतिक्रियाएं अत्यंत व्यक्तिगत होती हैं।

पुनर्विवाह तथा पतित नारियों का पुनरुद्धार किया जा सकता है, पश्चिम की नकल से किस प्रकार विवाह और मित्रता नष्ट होती है,

जर्मींदारों तथा महाजनों के चंगुल से ग्रामीण अर्थव्यवस्था को कैसे मुक्त किया जा सकता है और अस्पृश्य तथा अन्य उचित वर्गों को किस प्रकार मानवीय गरिमा दिलाई जा सकती है। इसी तरह की अन्य अनेक जटिल समस्याओं को भी चित्रित किया गया। जहां तक भाग्यवाद और दुखद अंत का सवाल है, यह एक मूक विरोध था जिसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की बाधाओं के खिलाफ सामूहिक चेतना को जागृत करना था।

जिन फिल्मों में समाज की कुरीतियों का इतना स्पष्ट और प्रभावशाली ढंग से चित्रण हुआ, उन्होंने समाज को प्रभावित किया और उसे सुधार की दिशा दी। निश्चय ही स्वतंत्रता, नए संविधान, कानूनी सुधारों तथा जागृति की भी अपनी भूमिका रही। परंतु फिल्मों ने परिवर्तन के लिए मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय आधार तैयार किया। यद्यपि यह सब बावस आफिस की कई जरूरतों और काल्पनिक पात्रों तथा काल्पनिक समाधानों के माध्यम से किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तथा स्वतंत्रता के बाद के युग से भारतीय सिनेमा पलायनवादी मनोरंजन की ओर मुड़ गया और वह अपने सामाजिक उद्देश्य से भटक गया। जिन गंभीर विषयों या विचारों को लिया भी गया, उन्हें केवल एक आड़ या पृष्ठभूमि के तौर पर इस्तेमाल किया गया और अंततः उसका मजाक बनाकर छोड़ दिया गया। वामपंथ से प्रेरित फिल्मों में सामाजिक परिवर्तन की कसमें खाई-गई बत्तिं उसके लिए शोर मचाया गया परंतु उनकी सफलता केवल कुछ नवीनता प्रस्तुत करने तक ही सीमित रही।

इस लेख में यह पता लगाने का प्रयास किया गया है कि कुल मिलाकर भारतीय सिनेमा का समाज के लिए क्या योगदान रहा और इसके समर्थन में सबसे सशक्त बात यह कही जा सकती है कि यह अधिकतर तरह-तरह के उन सवालों को समझने-समझान का मापदंड बनकर उभरा है, जिनमें प्राथमिक

ज्ञान-वृद्धि आचरण की आवश्यकता है। लोग इन बिन्दुओं को उत्सुकता से ग्रहण करते हैं और मस्तिष्क के किसी काँचे में जमा कर लेते हैं जिसे उस समय फिर से जागृत किया जाता है जब किसी से जवाब या मार्गदर्शन लेना-देना हो। लोग यह बात भी अच्छी तरह जानते हैं कि फिल्मों की बातें पूरी तरह सही नहीं हैं, इसीलिए अतिकल्पना वाले अंशों को एक तरफ रखकर वे शेष बातों को अपने अनुभव या परामर्श से फिर से जांचते हैं।

भारत जैसे देश में जहां साक्षरता की कमी है, यह अपने आप में बहुत बड़ी समाज सेवा है। भले ही यह सब परोक्ष रूप से और अनजाने में ही हो रहा है, किन्तु यह फीचर फिल्म के अल्पांत लोकप्रिय स्वरूप में सिनेमा का एक शैक्षणिक कार्य ही है।

शिक्षाप्रद तथा सूचनापरक फिल्में बनाने के लिए सदैव फिल्म उद्योग का आह्वान किया जाता है जो वित्तीय तथा बाक्स-ऑफिस सम्बन्धी मजबूरियों के चलते संभव नहीं है। किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि व्यावसायिक सिनेमा में अव्यवस्थित ढंग से ही सही, मानवीय सम्बन्धों; पारिवारिक रिश्तों; बदलते हुए सामाजिक मूल्यों और इनके असर से बनने वाले मनुष्यों, नए उपकरणों तथा तकनीकों; ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और देशभक्ति परक पृष्ठभूमि; विश्व तथा देश के अनेक भागों के जन-जीवन के बारे में भरपूर जानकारी मिलती है, जो सामान्य फिल्म दर्शक वैसे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। आप कमजोर वर्गों तथा कम पढ़-लिखे लोगों को जीवन के विभिन्न संदर्भों में फिल्मों का हवाला देते हुए अक्सर देख-सुन सकते हैं।

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के कुछ भाग का श्रेय सिनेमा का दिया जा सकता है। भले ही सिनेमा यह

परिवर्तन पैदा न करता हो, किन्तु उसमें गति तो लाता ही है। फिल्में अलग-अलग भाषाओं, धर्मों, संस्कृतियों और जीवन शैलियों के लोगों में सामाजिक गतिशीलता, मेल-जोल तथा एकता का भाव पैदा करती है। टेलीविजन पर व्यापक आधार पर फिल्में दिखाए जाने से इस प्रक्रिया को और बल मिला है क्योंकि टेलीविजन की पहुंच पैसे लेकर फिल्में दिखाने वाले सिनेमावरों के मुकाबले बहुत ज्यादा है।

सिनेमा ने परोक्ष रूप से एक और उपलब्धि भी हासिल की है। यह है भाषायी जागरूकता तथा एक क्षेत्र की भाषा के कुछ हिस्से को दूसरे क्षेत्र तक पहुंचाना। नियमित रूप से यात्रा करने वाले लोग उस प्रांत की भाषा के कुछ शब्द सीख लेते हैं, जहां जाकर उन्हें काम करना होता है।

भारत जैसे विशाल देश में किसी के लिए एक दर्जन से अधिक भाषाएं सीख पाना संभव नहीं है, किन्तु फिल्मों के क्रारण पहले चरण का काम आसान हो जाता है। फिल्मों की कृपा से अनपढ़ लोग भी बोल-चाल में कई अंग्रेजी शब्द इस्तेमाल करते जाते हैं।

हिन्दी सिनेमा यह काम व्यापक आधार पर कर सकता है और विभिन्न भाषायी समूहों में ऊपरी एकता लाने के सूत्र के रूप में काम करता है। लोग भाषाओं को पूरी तरह नहीं समझ पाते किन्तु वे अपनी टूटी-फूटी शैली में संपर्क-कायम कर लेते हैं और यह संपर्क एक-दूसरे से काफी भिन्न वर्गों में पुल का काम करता है। एक दूसरे की भाषा न समझने वाले लोग भी फिल्मों के नाम, प्रतिष्ठ संवादों के शब्द और गाने बोल लेते हैं। यह आपसीं समझ बढ़ाने की एक चैष्टा है जो सिनेमा की देन है। हिन्दी फिल्मों के गीत पूरी तरह समझ में न आने पर भी पूरे देश में प्रसंद किए जाते हैं, और बजाए जाते हैं। ■

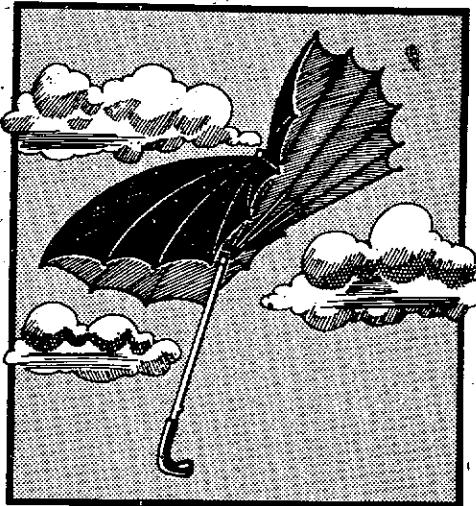
सिनेमा के इससे अधिक योगदान की बात करना फिल्मों को विशेषकर आज के युग में अधिक महत्व देना होगा। अधिकतर तथाकथित मनोरंजन प्रधान फिल्मों में विदेशी अथवा पुरानी भारतीय फिल्मों के फार्मूले भरे होते हैं। ये फिल्में बेतुकी कल्पना तथा बिना किसी आधार की खोखली दुनिया में ही विचरती हैं। फिर भी इन फिल्मों में चित्रित होने वाली कुछ जीवन पद्धतियां और सिद्धांत रोज-मर्मा की जिन्दगी की ऊपरी सतह से नीचे तक अपना सामाजिक प्रभाव छोड़ सकते हैं। हिंसा, अपराध (सेक्स, बलात्कार सहित) को इस तरह से चित्रित किया जाता है कि वह बहुत आसान और हल्का लगता है और उसके दुष्परिणामों को नहीं दिखाया जाता।

सिनेमा के प्रति सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर सर्वेक्षण किए जा सकते हैं जिनसे सच्चाई सामने आए। अदालतों तथा पुलिस थानों में कई लोगों ने स्वीकार किया है कि अपराधों की प्रेरणा उन्हें फिल्मों से मिली। दुख से छुटकारा पाने के लिए विशेषकर प्रेम के मामलों में, आत्महत्या का रास्ता अपनाने की प्रवृत्ति फिल्मों के असर की ही एक मिसाल है।

भावपूर्ण प्रेम की कुछ फिल्मों में प्रेमी-प्रेमिका को अंत में अपना जीवन समाप्त करते हुए दिखाया गया, जिससे प्रेरणा लेकर अपने वास्तविक जीवन में भी कुछ युवक-युवतियां यहीं करने लगे। सिगरेट और शराब काफी समय से सेक्स तथा चमक-दमक के प्रतीक भाने जाते रहे हैं, जिनकी प्रेरणा नायक, खलनायक या अब तो महिला पात्रों से भी ली जाती है। परंतु यह तो सिनेमा के दुष्प्रभावों का एक अंशमात्र है। कोई नहीं जानता कि पुरुष या नारी, बड़े या छोटे, सुसम्भव या असम्भव लोगों के मनस्थी अथाह सागर की गहराइयों में सिनेमा के क्या-क्या दुष्प्रभाव हिलोरे तेरह हैं। ■

आम धारणा

गाँव में रहने वाला औसत व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिये
मौसम और कर्ज़ देने वालों पर निर्भर करता है।



वास्तविकता

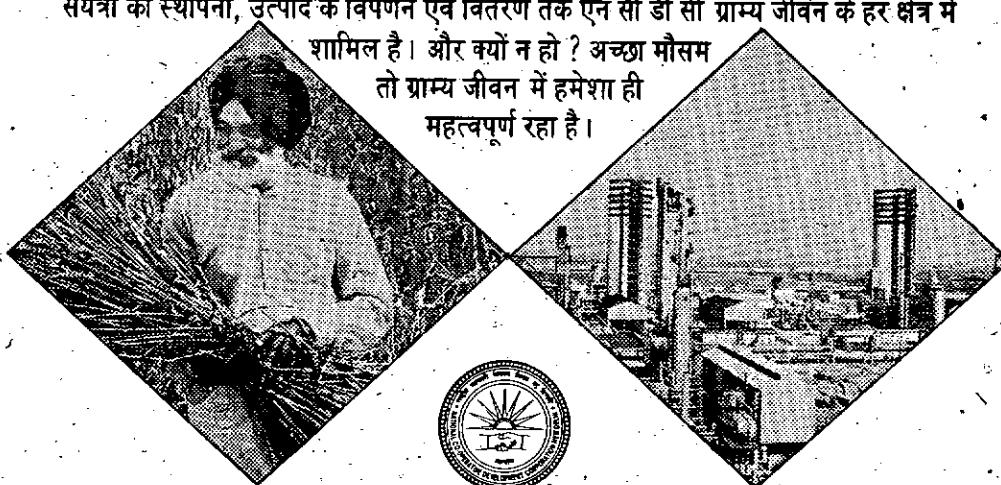
समय बदल चुका है। गाँवों का दृश्य भी बदल चुका है।

और अब ग्रामीण व्यक्ति अपना भाग्य स्वयं निर्धारित करता है।

क्योंकि आज राज्य सरकारों की पहल पर एन सी डी सी द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त किसान सहकारी समितियों ने जगह-जगह पर उर्वरक संयंत्र, चीमी मिलें, तिलहन विधायन इकाईयाँ, कटाई मिलें – यहाँ तक कि कुक्कुट एवं मत्स्य उद्योग भी स्थापित किये हैं।

और इनसे ग्रामीणों को रोजगार के साथ-साथ विकास के कई अवसर प्राप्त हुए हैं।

सहकारी गतिविधियों की योजना बनाने, प्रोत्साहन, मोर्गदर्शन एवं उन्हें सहयोग देने से लेकर संयंत्रों की स्थापना, उत्पाद के विपणन एवं वितरण तक एन सी डी सी ग्राम्य जीवन के हर क्षेत्र में शामिल है। और क्यों न हो? अच्छा मौसम तो ग्राम्य जीवन में हमेशा ही महत्वपूर्ण रहा है।



नेशनल को-ऑपरेटिव डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन
4, सिरी इंस्टीट्यूशनल एरिया, हौज खास, नई दिल्ली-110016

एन सी डी सी - एक सहकारिता कथा

समाज सुधार की अहम् भूमिका में सिनेमा

गौतम कौल

लेखक का मानना है कि आने वाले समय में भारतीय सिनेमा हमारी सामाजिक विचारधारा को सही दिशा प्रदान करेगा, क्योंकि अन्य बातों के अलावा यह भारतीयता और समग्र मानव समाज की बात करता है, साथ ही खुली बहस के जरिए सामाजिक पूर्वाग्रहों और विषमताओं को समाप्त करने के प्रयास भी इस विधा के जरिए किए जारहे हैं।

भारत में सिनेमा का प्रवेश 1896 में ऐसे समय में हुआ जब देश में लोगों की राजनीतिक और सामाजिक सेवा में परिवर्तन हो रहे थे। समीक्षकों और चिंतकों ने आधुनिक भारत के निर्माण की प्रक्रिया का व्यापक विश्लेषण किया है। इस सक्षिप्त लेख में इतिहास के उस मोड़ और समय के उस पंडाव की ओर ध्यान दिलाया गया है जिनमें कुछ विशेष घटनाएँ हुई और आधुनिकता की शक्तियां सतह पर आईं।

जिन मूलभूत परिवर्तनों का समन्वय इस प्रायद्वीप को करना पड़ा, उनकी जड़ें हुगली नदी के किनारे कालीकट गांव के पास एक छोटी सी फैक्ट्री की स्थापना से जुड़ी हैं। जॉब चारनॉक द्वारा स्थापित यह फैक्ट्री बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी बन गई और इसने वहां की आबादी को शहर का रूप दिया, जिसे पोर्टसिटी ऑफ कलकत्ता यानि बंदरगाह शहर कलकत्ता कहा गया।

प्रायद्वीप पर यूरोपीय संस्कृति का हमला ब्रिटेन के लोगों के आगमन से ही शुरू नहीं हुआ था, वास्तव में इसकी शुरुआत 15वीं शताब्दी में पश्चिमी तट पर वास्कोडीगामा के पहुंचने से ही हो गई थी। लेकिन पुर्तगाल के बाद डच और फ्रांसीसी लोगों के आगमन से भारतीय उपमहाद्वीप की वर्ग-संस्कृति पर कोई तात्त्विक असर नहीं पड़ा।

रोबर्ट क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स ने पूर्व भारत की विघटित राजनीतिक स्थिति का अधिकाधिक दोहन किया और राजनीतिक प्रभुत्व के ऐसे क्षेत्रों का निर्माण किया, जिससे लंदन में ब्रिटेन की सरकार ईस्ट इंडिया कंपनी को सरकारी संरक्षण देने के लिए मजबूर हो गई। परवर्ती गवर्नर-जनरल चार्ल्स कार्नगालिस ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार वाले क्षेत्र में भूमि-सुधार के उपाय किए, जिससे इन क्षेत्रों में राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता आई और कंपनी की आड़ में ब्रिटिश प्रशासन ने अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार किया।

अन्य यूरोपीय सभ्यताओं से भिन्न अंग्रेजों ने जब यहां अपने शाही साम्राज्य का विस्तार शुरू किया तो एक बेजोड़ राजंसी मानसिकता हासिल की, जिसका अन्य यूरोपीय जातियों में पूर्णतया अभाव था। फ्रांसीसी शिक्षा लेकर नहीं आए, पुर्तगाली सिर्फ व्यापार से ही संतुष्ट रहे और डच इस फैसले पर रहे कि वे सूरत में ब्रिटिश व्यापारियों के अधर्मी की बराबरी नहीं कर पाएंगे और उन्होंने पहले से ही स्थापित अपनी बस्तियां खाली कर दीं। अकेले भारत में ही ऐसा हुआ जब अंग्रेजों ने अपनी उपलब्धियों को ठोस रूप दिया तो उन्होंने साम्राज्यवाद की अपनी अवधारणा व्यक्त करने में आडंबरपूर्ण योजनाओं का सहारा लिया, जिसकी उस समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

अंग्रेजों ने अंग्रेजी की शान को अपने राजनीतिक प्रशासन का आधार बनाया और यह प्रयास किया कि उनके आंतरिक शासित क्षेत्र के कोने-कोने में अंग्रेजी का प्रसार हो। यह महसूस किया गया कि भारत में शाही संपत्ति के प्रबंध के लिए इंग्लैण्ड से अधिकारी आयात करने का बोझ अवश्य हल्का किया जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था बनाई जानी चाहिए, जिसमें शिक्षित भारतीय कम लागत पर शाही परिसंपत्तियों के हर रोज के मानकों की देख-रेख कर सकें। उन्हें ब्रिटिश तंत्र में एक ऐसी हैसियत भी दी गई जो स्थानीय जातिवादी मानसिकता के अनुरूप थी।

सन् 1857 की राजनीतिक क्रांति ने दृश्य-पटल में व्यापक परिवर्तन किया। इंग्लैण्ड की ब्रिटिश सरकार ने कार्य-प्रणाली का चार्ज लेने का निर्णय किया और 1860 तक कुछ कानून और आदेश वापस ले लिए गए। ब्रिटिश सरकार ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि राज्यतंत्र में वफादार भारतीयों को ऊंचे पद दिए जाएंगे और उन्हें प्रशासन में सक्रिय भूमिका दी जाएगी।

इस समय सिनेमा प्रकाश में आया। यूरोप में विज्ञान तेजी से तरक्की कर रहा था। हर सप्ताह नए आविष्कार हो रहे थे। बिजली की खोज, बल्ब का विकास, पहली फोटो नेगेटिव लेट का निर्माण, बाक्स सिनेमा और इससे संबद्ध अनेक तकनीकों की खोज हो रही थी।

इस बीच कलकत्ता में खेले गए ब्रिटिश नाटक ने भारत के शिक्षित वर्ग में एक नई लालसा जगा दी। यह वर्ग अपने थियेटर के निर्माण के बारे में सोचने लगा।

सन् 1857 की क्रांति के बाद जैसे ही ब्रिटिश सरकार ने जन-अभिव्यक्ति पर नियंत्रण में ढील दी, ड्रामा और नाटककार फिर सक्रिय हो गए। भारतीय क्रांतिकारियों पर ब्रिटिश सिपाहियों के जुल्मों ने देशवासियों के दिल में अंग्रेजों के प्रति नफरत भर दी। इस समय एक नई सामाजिक चेतना जारी। थियेटर के जरिए राजनीति पर व्यंग्य किए जाने लगे।

सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता

सन् 1876 में लखनऊ के थियेटर में “नीलदर्पण” नाटक खेला गया। इसमें ब्रिटिश अधिकारियों के अवगुणों, चालाकियों और बुराइयों को दिखाया गया था। नाटक के प्रदर्शन पर ब्रिटिश संदस्यों ने दंगा किया। दीनबंधु मित्र के लिखे इस नाटक में दिखाया गया था कि कैसे ब्रिटिश अधिकारी अपने अधीनस्थ काम करने वाले कामगारों पर अत्याचार करते थे। इस पर ब्रिटिश सरकार ने सार्वजनिक प्रदर्शनों पर रोक लगा दी और संसर के लिए नाटक प्रदर्शन अधिनियम लागू कर दिया।

“नीलदर्पण” के बाद भारतीय थियेटर ने सामाजिक-राजनीतिक दृश्य को अपनाया और थियेटर राष्ट्रीय गौरव की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। पहली बार किसी नाटक के प्रदर्शन को सामाजिक जागरूकता के अभियान में रिकार्ड सफलता मिली थी। भारत में जब सिनेमा आया तो उसमें भी इन्हीं भावों को अभिव्यक्ति मिली और इसे देखने के लिए भारी संख्या में दर्शक उमड़ पड़े।

सिनेमा यात्रा का आरंभ

सन् 1896 में बबई में लघु फिल्में दिखाई गई। इससे पहले कलकत्ता में भी फिल्म का प्रदर्शन हो चुका था। चलती-फिरती फिल्मों के नए आविष्कार के बाद बंगाली, गुजराती और मराठी उद्योगपति इस क्षेत्र में आए। सन् 1912

में बबई के गिरगांव में कोरोनेशन थियेटर में “पुंडलिक” फिल्म का प्रदर्शन किया गया। इसे आर. जी. टोर्ने ने बनाया था। भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहेब फाल्के ने 1913 में “राजा हरिश्चन्द्र” फिल्म बनाई और इस विद्या को एक नया स्वरूप दिया। इसके बाद भारतीय पौराणिक गाथाओं पर कई फिल्में बनीं।

सन् 1922 में धीरेन्द्रनाथ गांगुली के निर्देशन में पहली कथित कामेडी फिल्म “इंलैंड रिटर्न” बनी। इसने पौराणिक गाथाओं पर आधारित सिनेमा के स्ट्रिंग्स रूप को तोड़ा। इस फिल्म की सफलता का राज इसका हास्यप्रद होना ही नहीं था बल्कि सिनेमा के माध्यम से समाज की स्थिति को दिखाया गया था जिसमें भारतीय विदेशी शासकों की नकल कर रहे थे और अपने समाज के लिए नई-नई समस्याएं पैदा कर रहे थे।

वहीं से फिल्म-निर्माण की दो धाराएं बन गई। एक ओर पौराणिक विषयों को लेकर फिल्में बनाई जा रही थीं तो दूसरी ओर फिल्मों के जरिए समाज की विषमताओं और राजनीतिक स्थिति पर व्यंग्य किए जा रहे थे। इस समय की फिल्मों के नाम ऐसे थे, जो आज कभी-कभार सुने जाते हैं। जैसे— ‘स्टेप मदर’ (1923), ‘चन्द्रनाथ’ (1924), ‘काला नाग’ (1924), ‘म्यूनिसिपिल इलेक्शन’ (1924), ‘शैतान पुजारी’ (1924), ‘चालू जमाना’ (1925) ‘कुलीन कांता’ (1925) आदि। मूक फिल्मों की परंपरा में बाबू राव पेटर द्वारा बनाई गई फिल्म “सवकारी पाश” काफी सराही गई। इसमें वी. शांताराम और कमला देवी ने किसान पति-पत्नी का सशक्त किरदार निभाया था जो जर्मांदारी प्रथा का विरोध करता है।

बाबूराव पेटर ने सिनेमा की पृष्ठभूमि में काफी योगदान दिया। उन्होंने कोल्हापुर में वी. शांताराम और फतेहलाल की साझीदारी में यथार्थ के धरातल पर फिल्म बनाने के लिए “महाराष्ट्र फिल्म कंपनी” बनाई।

राजनीतिक-सामाजिक सिनेमा

इस समय भारतीय सिनेमा ने दर्शकों पर और अधिक गहरा प्रभाव छोड़ा। ब्रिटिश सरकार ने सेंसर बोर्ड बनाया। इसी समय युवा गुजराती व्यापारी द्वारका नाथ संपत्त द्वारा बनाई गई “भक्त विदुर” पर खासा विवाद हुआ। 1918 के सिनेमा अधिनियम के बाद क्षेत्रीय सेंसर बोर्ड बना। यह संगठन भारत में अमरीकी फिल्मों के आयात के प्रसार पर रोक लगा रहा था, पर भारतीय फिल्म निर्माताओं के रचनात्मक कार्य को सराह रहा था। इस पंक्ति में द्वारकादास एन. संपत्त का नाम अग्रणी था।

संपत्त ने अपने समय की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर फिल्म बनाने का फैसला किया। “भारतमाता” को उत्कृष्ट गौरवमय रूप में दिखाया गया। विदुर को गांधी टोपी और खंडदर के वस्त्र पहने हुए चरखा कातते हुए प्रदर्शित किया गया। 1918 में कैरा जिते में ग्रामवासियों द्वारा कर न देने और सरकार की नीतियों के विरोध में 1921 में छिराभा कस्वा खाली किए जाने की घटनाएं फिल्म में दिखाई गई थीं। इस फिल्म में धूतराष्ट्र के दरबार में अधिकारियों को “डॉकी बहादुर” का खिताब दिया जाता है जो ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए जाने वाले “दीवान बहादुर” पुरस्कार पर व्यंग्य स्वरूप है। सरकार ने इस फिल्म पर आरोप लगाए। जहां भी यह फिल्म प्रदर्शित हुई वहीं कई कठिनाइयां सामने आई। पुलिस का विरोध सहना पड़ा और अंत में इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। फिल्म का सर्वाधिक असर भारत के राजनीतिक-सामाजिक परिवृश्य पर पड़ा।

“इंलैंड रिटर्न” “सवकारी पाश” आदि फिल्मों ने मूक भारतीय सिनेमा के समय में तीखे सामाजिक व्यंग्य किए।

वर्ष 1927 के आस-पास भारतीय सिनेमा काफी समृद्ध हो चुका था। वह स्वाधीनता संग्राम के महत्त कार्य में जुट गया था। फिल्म-निर्माता उस समय के नेताओं पं० मदन

मोहन मालवीय, सरोजिनी नायडू, जवाहरलाल नेहरू, मोतीलाल नेहरू और महात्मा गांधी के संदेश फिल्मों के माध्यम से फैला रहे थे। सामाजिक क्रांति की दिशा में फिल्मों ने यह महान् योगदान दिया था।

स्वर्ण युग

बोलती फिल्मों के आने से भारतीय सिनेमा ने शिक्षित और अशिक्षित भारतीयों के मन में अपना जीवन-स्तर सुधारने और रुद्धियों को तोड़ने के लिए सामाजिक जागरूकता की भावना पैदा की।

वर्ष 1931 से 1946 तक का समय सामाजिक व्यांग्य से जुड़े सिनेमा का स्वर्णिम काल था। आम बहस पर ऐसी फिल्में बनीं जिन्होंने लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। यह जरूरी है कि इस समय बनी फिल्मों और उनके उद्देश्यों पर नजर डाली जाए, जिससे पाठक को यह पता लगे कि भारतीय सिनेमा में कमियां होते हुए भी विश्व के अन्य देशों की तुलना में उसने अपने दर्शकों और समाज के प्रति कर्तव्य का बेहतर ढंग से पालन किया। इसके लिए हम कुछ फिल्मों के नाम गिना सकते हैं। यह सूची काफी लंबी हो सकती है परं हमारे पास स्थान की कमी है। ये फिल्में 1950 में भारत के गणतंत्र बनने से पहले बनी हैं।

पश्चिमी संस्कृति की समस्याओं का भारतीय संस्कृति से टकरावं 1934 में बनी “इंदिरा मां” फिल्म में दिखाया गया। विवाह और सामाजिक विषमताओं के विरोध स्वरूप 1935 में “देवदास” बनी। जातिवादी व्यवस्था और धार्मिक भेदभाव पर 1936 में “अछूत कन्या” बनी। इसी दिशा में 1940 में “अछूत”, “ऊँच-नीच”, “माला-पीला”, “हरिजनपन” और “भक्त चेतन” फिल्मों का निर्माण हुआ। हिंदू विधवा के पुनर्विवाह को बढ़ावा देने के लिए 1936 में “बालयोगिनी” फिल्म बनाई गई। उद्योग में श्रमिक-भागीदारी के लिए 1936 में “प्रेसीडेंट” बनी। कृषि के

मशीनीकरण को बढ़ाने के लिए 1937 में “धरतीमाता” फिल्म बनाई गई। युवा कन्या के बुद्ध व्यक्ति से विवाह के विरोध में 1937 में “दुनियां ना माने” बनी और सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को 1938 में बनी “अधिकार” फिल्म में प्रदर्शित किया गया।

1939 में बनी “आदमी” फिल्म में भारतीय सिनेमा ने रुद्धिवादी विचारों पर प्रहार किया। भारतीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता 1940 में बनी “सिकंदर” फिल्म में दिखाई गई। 1941 में “नया संसार”, 1949 में “धरती के लाल” और 1942 में बनी “रोटी” फिल्म में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण पर जोर दिया गया। 1944 में “उदायर पाथेय” और 1946 में “नीचा नगर” इसी शृंखला की फिल्में हैं। 1938 में बनी “दुश्मन” फिल्म में तपेदिक की बीमारी के प्रति जागरूकता अभियान चलाया गया। तपेदिक उस समय जानलेवा बीमारी थी और इस संबंध में अनेक भ्रातियां व्याप्त थीं। 1941 में बनी “माई सिस्टर” फिल्म रक्तदान और नर्स की सेवा भावना पर आधारित थी। 1943 में बनी “विजया लक्ष्मी” फिल्म में विदेशी वस्तुओं का बायकॉट किया गया। 1939 में बनी “ब्रांडी दी बाटली” में शराब पर प्रतिवंध का प्रसार किया गया। इसी सूची में 1943 में “अंगूरी” और 1932 में “पति भक्ति” और 1934 में “गृह लक्ष्मी” बनी।

सिनेमा ने भारतीय उद्योग की दुर्दशा पर 1934 में “द मिल” और 1946 में “हमराही” बनाई। 1925 में बनी “चरखा” फिल्म में खादी वस्त्रों के महत्व और “एकता”, “पड़ौसी” और “मेनका” फिल्मों में साम्राद्यिक सद्भाव के रास्ते में आने वाली कठिनाइयों को दिखाया गया। “माला-पिल्ला” में हरिजन कल्याण और “सुमंगली” फिल्म में विधवा विवाह का उद्देश्य रखा गया। जर्मनीदारी प्रथा की बुराइयों को 1940 में बनी “रेतू बिद्दा” में और शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को 1948 में बनी “बन्दे मातरम्” फिल्म में

दिखाया गया। बिन ब्याही मां की समस्या “देवता” फिल्म में दिखाई गई और 1948 में बनी “अपना देश” में कालाबाजारी और तस्करी को दिखाया गया। दहेज की बुराई “राजामनी” में और 1950 में बनी “दहेज” फिल्म में प्रदर्शित की गई।

उपरोक्त फिल्में तमिल, तेलुगु, मराठी, हिंदी, सिंधी और बंगला में बनीं। इन फिल्मों का उल्लेख पाठक के विचाराधीन किया जा रहा है जिससे फिल्मों के जरिए राजनीतिक और सामाजिक बुराइयों को दूर करने के जागरूकता अभियान की जानकारी मिल सके। बुद्धिवादी जिस जागरूकता की बात करते हैं, फिल्मों में वह पूरी तरह विद्यमान थी।

स्वतंत्रता से पहले का अशिक्षित समाज, जहां समाचार-पत्र, पुस्तकों के ज्ञान और संदेशों से अनभिज्ञ था फिल्मों ने ऐसे वर्ग के लिए सामाजिक क्रांति की भावना का विकास किया।

मध्ययुगीन काल में सूफी संतों और विभिन्न समुदायों के संतों ने समाज में जागरूकता अभियान का सूत्रपात दिया। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में धूम-धूमकर अपने विचारों का प्रचार-प्रसार किया और आजीवन समाज-सुधार के इस महत्व काम में लगे रहे। भारत में जब सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में तेजी लाने की जरूरत थी, उस समय सिनेमा ने इस कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्वतंत्रता संग्राम के समय सिनेमा के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने 1920 के पूर्वाधी में यह स्वीकार कर लिया था कि भारतीय समाज में मूलभूत परिवर्तन होना चाहिए। उनसे पहले तिलक, विवेकानन्द और अरविंद नवीन भारत की प्रक्रिया की नींव रख चुके थे।

विश्व इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सामाजिक क्रांति से ही राजनीतिक क्रांति हुई है। आधुनिक भारत के पहले महान् सामाजिक परिवर्तन का श्रेय राजा राममोहन

राय को जाता है। उन्होंने महिलाओं के उत्थान, सती-प्रथा पर प्रतिबंध, बाल-विवाह और शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में महान योगदान दिया। पूर्वी भारत में ब्रह्म समाज का योगदान अद्वितीय है। देश के हिंदी भाषी क्षेत्रों में इस तरह की क्रांति नहीं हुई। परिवर्तन तो हुए पर क्रांति की तरह नहीं। दक्षिण भारत में सिनेमा की प्रक्रिया धीमी रही परंतु यहां ड्रामा कंपनियों ने यह काम पूरा किया।

किसी भी नवीन विचारधारा को समाज के एक वर्ग के विरोध का सामना तो करना ही पड़ता है। ऐसी विचारधाराओं वाली फिल्मों को भी विरोध का सामना करना पड़ता है। दक्षिण भारत में ‘रैतुबिद्दा’ फिल्म को काफी विरोध का सामना करना पड़ा। आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के जमींदारों ने इसका जमकर विरोध किया। उनके अनुसार यह फिल्म सामाजिक व्यवस्था का विरुद्धन कर रही थी। परंपरावादियों ने “बालयोगिनी” और “माला-पिल्ला” का भी काफी विरोध किया। पश्चिमी भारत में “अछूत” और “अछूत कन्या” को जन आक्रोश का सामना करना पड़ा। कथित रूप से ऊँची और नीची जातियों के बीच अन्तर्जातीय विवाह का संदेश देने वाली “अछूत कन्या” फिल्म की प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इस फिल्म के रिलीज होने पर लोगों ने विरोध बैठकें बुलाईं और फिल्म के प्रदर्शन पर थोड़े समय के लिए प्रतिबंध भी लगा दिया।

तीखी प्रतिक्रिया

सामाजिक तंत्र की कमजोरियों पर व्यंग्य करने वाली फिल्मों पर काफी तीखी प्रतिक्रिया हुई। उदाहरण के लिए 1944 में रिलीज हुई “रत्न” फिल्म को ही लें। इसमें जीवन साथी के चयन पर मां-बाप और युवाओं की झड़पें जीवन को अपने ढंग से जीने का अधिकार मांगना आदि बातों पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। “रत्न” फिल्म को अभूतपूर्व सफलता मिली। यद्यपि आज चर्चित “हम आपके हैं कौन” फिल्म ने रिकार्ड सफलता हासिल की है लेकिन

इससे कोई संदेश नहीं मिलता। “रत्न” फिल्म अपने आप में क्रांति थी।

1931 से 1946 तक का समय बुराइयों पर व्यंग्य की दिशा में सिनेमा का स्वर्णिम काल कहा जाता है। इस दौरान बनी फिल्मों पर खुली बहस हुई।

◆ ◆ ◆
समय के किसी भी मोड़ पर भारतीय सिनेमा के योगदान को वह मान्यता नहीं दी गई जिसका वह पात्र था। न ही स्वाधीनता संग्राम के काल में और न सामाजिक उत्थान की दिशा में उसके महत्व को आंका गया। इन दोनों मोड़ों पर जनविचारों को बदलने का महत्व काम सिनेमा ने किया है।

आ वश्यकता इस बात की है कि इस माध्यम पर नियमानी रखी जाए और ध्यान रखा जाए कि 21वीं सदी में सिनेमा के माध्यम से किस तरह की सामाजिक क्रांति लाई जा सकती है।

शिक्षा की प्रक्रिया में फिल्में

जिस सामाजिक क्रांति की बात हम करते हैं उसके दो प्रमुख क्षेत्र हैं। पहले क्षेत्र में भारतीय सिनेमा पूरे देश के लिए शिक्षा प्रसार का साधन बना। उसने जनसाधन को सोच की प्रक्रिया दी कि भारत में परिवर्तन होना चाहिए।

भारतीय सिनेमा ने अपने पहले 20 वर्षों में दर्शकों को धौराणिक इतिहास की जानकारी दी और बाद में सामाजिक बुराइयों पर कुठाराधात किया। इस दिशा में भी सिनेमा का योगदान रहा है। सिनेमा का हीरो घमंडी जमींदार के सामने अपने लोकतात्त्विक अधिकारों की बात करता है। अपनी प्रेमिका के समक्ष उसके अधिकारों को बताता है और जनसभाओं में भाषण देने वाले राष्ट्रीय नेताओं के समान तर्क-वितर्क करता है। भारतीय सिनेमा का पर्याप्त विस्तार हुआ। बंद हाल बनाए, जहां अंधेरा रहता था और फिल्मों के जरिए शिक्षा देने के लिए बड़ी-बड़ी कक्षाएं बनाई गईं।

सरकारी समर्थन नहीं

यह सच्चाई है कि भारतीय सिनेमा को किसी भी मोड़ पर सरकारी सहायता नहीं मिली। न ही स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों ने उसे समर्थन दिया।

सिनेमा का निर्माण करने वाले लोग तपस्या की भावना से इस विद्या में जुटे और विरोध के बावजूद जो उन्हें समाज के हित में ठीक लगा वही सिनेमा के माध्यम से प्रदर्शित किया। ब्रिटिश सरकार ने अपने खिलाफ प्रचार करने वाले सिनेमा कर्मियों को कभी समर्थन नहीं दिया। यह हैरानी की बात है कि देश में स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों ने स्वतंत्रता संग्राम में सिनेमा के योगदान की चर्चा नहीं की। सन् 1896 और आज के युग में भी सामाजिक क्रांति और उत्थान के क्षेत्र में सिनेमा के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। लेखक ने इस सोच को मान्यता देने पर प्रश्न उठाया है। वास्तव में भारतीय सिनेमा ने लोगों के विचारों में परिवर्तन की दिशा में काफी अहम भूमिका निभाई है।

सिनेमा ने प्राकृतिक सीमाओं के बंधन तोड़कर हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार किया है। लेकिन सरकारी तौर पर इसे कभी स्वीकार नहीं किया गया। धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज के गठन में सिनेमा की भूमिका पर भी ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय सिनेमा आज भी भारतीयता की बात करता है। यह जातिगत भेंट से ऊपर उठकर संपूर्ण मानव समाज का चित्रण करता है। खुली बहस के जरिए सामाजिक पूर्वाग्रहों और विषमताओं को दूर करने के प्रयास भी इस विद्या के जरिए किए जा रहे हैं। अब सिनेमा में ऐसे विषयों को भी शामिल किया जा रहा है जो पहले वर्जित थे और अभी भी प्रिंट मीडिया में भी जिन पर विचार-विमर्श नहीं किया जाता। भारतीय सिनेमा को आज भी विरोध का सामना करना पड़ता है। क्योंकि यह रुढ़िवादी भारतीय आधुनिक विचारधारा से अब भी दूर है।

भारतीय सिनेमा को आज रचनात्मक परिवर्तन का माध्यम बनाने की बजाए उस नकारात्मक परिवर्तन को रोकने का साधन (शेष पृष्ठ 13 पर)

फिल्म और सामाजिक विकास

हिन्दी सिनेमा पर एक नजर

अनिल सारी

हमारा सिनेमा समाज का दर्पण है। लेखक का मानना है कि सर्वाधिक सफल फिल्में वही रही हैं जिनमें लोकप्रिय मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक सुधार और मानवीय विकास की आकांक्षाओं का सही मैल रहा है।

“भारत में चलचित्र, सबसे पहले 7 जुलाई 1896 को प्रदर्शित किया गया। यह आयातित चलचित्र था। भारत में सबसे पहले लघु फिल्मों का छायांकन 1879 में विदेशी छाया चित्रकारों ने किया। 1899 में एक भारतीय ने लघु फिल्म बनाने का प्रयास किया। भारत में पहले कथानक का निर्माण 1912 में हुआ और 1931 में पहली बोलने वाली फिल्म तैयार हुई।”

फ्रीटोन संग्रहालय

(भारतीय सिनेमा के पहलतर वर्ष)

रि कॉर्ड सम्बन्धी पुस्तकों से ज्ञात होता है कि शुरू में जिन भारतीयों ने लघु फिल्मों का छायांकन किया उनके नाम थे “कोकोनेट फेयर”, “द रेस्टर्ज”, “स्लैडिंग न्यू व्यूज आफ बाम्बे” और “ताबूत प्रोसेशन”। हरिशचन्द्र एस. भट्टाचार्य (जो “सवे दादा” के नाम से लोकप्रिय थे) और एफ. बी. थानावाला ने भारत में पहली बार वृत्तचित्र इकाइयां स्थापित कीं। उनके प्रारम्भिक वृत्तचित्रों के शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि उनमें मनोरंजन और भव्यता पर जोर दिया गया था जोकि भारतीय सिनेमा के साथ परम्परागत ढंग से जुड़े थे। लेकिन इन प्रारम्भिक वृत्तचित्रों में एक वृत्तचित्र मोहनदास करमचंद गांधी के सम्बन्ध में भी था। बाद के वर्षों में बोलने वाली फिल्म “मजबूर” में कई गीत ऐसे थे जो गांधी-जी की निर्मम हत्या से ऐरित थे। मद्रास की एक कम्पनी “डाक्युमेंट्री फिल्म्स” ने 1948 में “महात्मा गांधी” शीर्षक से कथा फिल्म बनाई और पटेल इण्डिया ने लम्बे वृत्तचित्र “गांधीजी” का संकलन किया। स्वतंत्रता अंदोलन संबंधी न्यूजरील में इसका भरपूर उपयोग किया गया।

प्रारम्भिक फिल्मों में एक फिल्म थी “कॉमेस गर्ल” जिसका निर्माण मद्रास नेशनल थियेटर ने किया था। अंग्रेजों ने इस फिल्म

पर प्रतिबंध लगा दिया था। यह भी इतिहास और भारतीय सिनेमा की विरासत का एक हिस्सा है हालांकि भारतीय रजतपट पर बेतुके, छिछोरेपन और धिसीपिटी बदले की भावना से भरपूर फिल्मों की भरमार रही है लेकिन फिर भी फिल्म निर्माताओं ने अपने संस्कारों के कारण फिल्मों में भौण्डे और बेतुके मनोरंजन के बीच पारम्परिक रीति-रिवाजों और सामाजिक सुधारों को भी स्थान दिया है। एक विशुद्ध व्यावसायिक फिल्म में किसी चरित्र विशेष की पृष्ठभूमि में दीवार पर महात्मा गांधी या पं० जवाहरलाल नेहरू का चित्र देखकर कोई भी प्रबुद्ध आलोचक समझ सकता है कि ऐसा करके भारतीय मानस की संवेदनाओं को स्पर्श करने की कोशिश की गई है। लेकिन स्वयं फिल्म निर्माता ने इस प्रकार के लोकप्रिय चित्र प्रदर्शन से उस दृश्य विशेष में नाटकीय दृढ़ को नैतिक आयाम देने की कोशिश की है। लोकप्रिय फिल्मों के निर्माण की शैली के बारे में ऐसी बहस या कुछ की नजर में शैली की कमी, लोकप्रिय फिल्मों की सौन्दर्य भीमांसा के अध्ययन पर आधारित है और जरूरी नहीं कि आधुनिक भारतीय सामाजिक इतिहास और लोकप्रिय भारतीय फिल्मों के आपसी सम्बन्धों को तलाशते समय इन पर ध्यान दिया जाए।

भारतीय कथा फिल्मों ने अपने प्रारम्भिक वर्षों से ही भारतीय जीवन के शहरी और देहाती पहलू पर विशेष ध्यान दिया। यह बड़ी ही जीवन्त और पारम्परिक पहलू था। इसमें

वास्तविकता से परिपूर्ण पहली फिल्म

मूक फिल्मों में 1925 में बाबूराव पेन्टर ने फिल्म बनाई “सवकारी पाश” जिसका अंग्रेजी में नाम था—“इण्डियन शाइलॉक”। यह उन प्रारम्भिक फिल्मों में से एक थी जिनमें वी. शांताराम ने मुख्य भूमिका निभाई। इसे हम अपनी पहली कला फिल्म कह सकते हैं। इसमें भारतीय गरीब का अत्यन्त वास्तविक विवरण था जिसमें गांवों में कर्जे की समस्या, सामन्ती दमन, निर्धन किसानों और ऐसी कई अन्य समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया जिसके खिलाफ भारतीय अर्थशास्त्री और समाज सुधारक अपना अभियान चलाए हुए थे।

इसी दौरान पी.सी. बरुआ ने जिन्हें बाद में “देवदास” के लिए काफी ख्याति मिली, एक फिल्म बनाई, जिसका नाम था “फार्मर्ज डॉटर”। बारह वर्षों बाद अर्देशिर ईरानी ने इसी नाम से फिल्म बनाई “किसान कन्या” (1937)।

भारतीय कथा फिल्मों ने अपने प्रारम्भिक वर्षों से ही भारतीय जीवन के शहरी और देहाती पहलू पर विशेष ध्यान दिया। यह बड़ी ही जीवन्त और पारम्परिक पहलू था। इसमें

अधीन नब्बे के दशक के मध्य में कुछ परिवर्तन आया और लगता है कि सारा ध्यान शहरी कथानकों की ओर ही दिया जाने लगा है। “मदर इण्डिया”, “गंगा-जमुना”, “मुगल-ए-आज़म” और “शोले” हिन्दी सिनेमा की चार ऐसी लोकप्रिय बड़ी फिल्में हैं जिनकी लम्बे समय तक दर्शकों में मांग रही। इन चार फिल्मों में से केवल “मुगल-ए-आज़म” ही ऐसी फिल्म है जो ग्रामीण अंचल की पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं है।

आधुनिक तकनीक की देन, सिनेमा उद्योग पूरी तरह से शहरी उद्यम है। लेकिन इसका बाजार और दर्शक शहरी और ग्रामीण दोनों ही हैं और वास्तविक लोकप्रिय फिल्मों में शहरी और देहाती संस्कृति की एकरूपता देखने को मिलती है। यहां तक कि बाक्स-ऑफिस पर हिट नवीनतम फिल्मों जैसे “हम आपके हौन”, “करन-अर्जुन” और “मैंने प्यार किया” में या तो कहानी ग्रामीण पृष्ठभूमि की है या उनमें उन सामाजिक नियम—कानूनों को सम्प्रिलित किया गया है जो भारतीय शहरों और देहातों में समान रूप से पाए जाते हैं।

सुधारवादी विचारों का चित्रण

शहरी भावुकता और भारतीय फिल्म उद्योग के अधिकांश निर्देशकों, लेखकों तथा तकनीशियनों की पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण, लोकप्रिय भारतीय फिल्मों में वो सामाजिक दर्शन या विचारधारा देखने को मिलती है जिसकी शहरी प्रबुद्ध वर्ग में प्रधानता है। परिणामस्वरूप कई फिल्में निर्माताओं ने समाज सुधार आंदोलनों से प्रेरित होकर, अपनी फिल्मों के जरिए आम आदमी को सुधारवादी विचारधारा से अवगत कराया। इस सम्बन्ध में वी. शांताराम की फिल्मों का उल्लेख जरूरी है। “दुनिया न माने”, “दहेज”, “पड़ोसी” और “दो आंखें बारह हाथ” उनकी चार चर्चित फिल्में सुधारवादी और शिक्षात्मक थीं। वाम्बे टाकीज की “अछूत कन्या” (1936) भी एक ऐसी ही फिल्म थी। कुछ ही समय बाद रणजीत स्टूडियो ने इसी विषय पर फिल्म बनाई “अछूत”। इसमें

सुप्रसिद्ध अभिनेत्री गौहर ने काम किया। इस फिल्म में दलितों के छुआछूत के संघर्ष को चित्रित किया गया।

1930 से 1940 के दशक में फिल्मों में समाज सुधार और शैलीगत मनोरंजन के सम्प्रिलित को खूब सफलता मिली। गांवों से पतायन की पृष्ठभूमि पर तैयार फिल्म “स्ट्रीट सिंगर” ने कुंदललाल सहगल को अमर कर दिया। ग्रामीण पृष्ठभूमि पर बनी एक अन्य फिल्म “भेला” ने एक अन्य महान कलाकार को जन्म दिया और वे थे—दिलीप कुमार। दिलीप कुमार देहाती भारतीय के व्यक्तित्व को बड़ी ही सहजता से जीते थे। 1950 के दशक के मध्य तक जब बी.आर. चोपड़ा ने “नया दौर” बनाई तब दिलीप कुमार हिन्दी फिल्मों के न केवल सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रशंसनीय कलाकार थे अपितु तेजी से हो रहे शहरीकरण के बीच ग्रामीण भारत के नायक थीं थे।

मुक्त फिल्मों के युग में 1925 में बाबूराव पेंटर ने फिल्म बनाई “सवकारी पाश” (जिसका अंग्रेजी में नाम था—“इंडियन शाइलॉक”)। यह उन प्रारम्भिक फिल्मों में से एक थी जिनमें वी. शांताराम ने मुख्य भूमिका निभाई, इसे हम अपनी पहली कला फिल्म कह सकते हैं। इसमें भारतीय गरीब का अत्यन्त वास्तविक चित्रण था।

आधुनिक युग में, तीस के दशक से लेकर साठ के दशक तक भारतीय सिनेमा का मुख्य विषय सामाजिक समस्याएं ही रहा। कुछ महत्वपूर्ण फिल्में—महबूब की “जौरत” और “मदर इण्डिया”, के.ए. अब्बास की “धरती के लाल”, बिमलराय की कई फिल्मों में से “दो बीघा जमीन” और “सुजाता”, राजकपूर की “गंगा-जमुना” और सुनील दत्त की “मुझे जीने दो” में भारत की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया।

नारी की बदलती छवि

भारतीय कथा फिल्मों में सामाजिक सुधार की धारा बड़ी ही सहज ढंग से प्रवाहित हुई। चूंकि सभी कथा फिल्मों में पुरुष और महिला के सम्बन्धों को प्रमुखता दी गई अतः हिन्दी

कथा फिल्मों में नारी चरित्रों को विशेष महत्व मिला। और फिल्मों में बीसवीं सदी की नारी की बदलती छवि प्रतिबिम्बित हुई। एशिया के अन्य देशों की भाँति भारत में भी 20वीं सदी के दौरान नारी ने अवाञ्छित दक्षिणाहुसी ढर्ने के बंधन को तोड़ा। कई ऐसे उदाहरण हैं जब भारत की लोकप्रिय नायिकाएं बीसवीं सदी की नारी की प्रतिनिधि बन गईं। लगातार कई फिल्मों में दहेज और बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों, नारी-शिक्षा, कामकाजी महिला की गरिमा, सामाजिक सुधार आन्दोलन आदि की प्रधानता रही।

मूक फिल्मों के युग में भी धीरेन गांगुली ने “लेडी टीचर” बनाई। इसके अलावा अन्य फिल्मों “मैरिज मार्किट”, “टेलिफोन गर्ल” और “टाइपिस्ट गर्ल” में भी कामकाजी महिला की गरिमा को चित्रित किया गया। 1935 में “डा. मधुरिका” में एक लेडी डाक्टर के जीवन को चित्रित किया गया। “बैरिस्टर वाइफ” में गौहर ने मुख्य भूमिका निभाई। कारदार शर्मा की “शारदा” और शान्ताराम की “दुनिया न माने” में बाल विवाह की प्रथा पर आधार लिया गया। ये फिल्में काफी लोकप्रिय हुईं।

1970 का दशक वह था जब एकशन फिल्मों का जोर रहा। फिर भी फिल्मी समाजशास्त्रियों के लिए यह एक बौद्धिक अपराध होगा यदि वे इस ओर ध्यान नहीं देंगे कि सत्तर के दशक के दौरान समकालीन नारीत्व का नए रूप में चित्रांकन हुआ। केवल हिंदी सिनेमा में यह शबाना आजमी और स्मिता पाटिल का भी दशक था। इन दो अभिनेत्रियों ने समकालीन नारी चरित्रों को ऐसे जिया कि भारतीय फिल्म की शैली ही बदल गई। छोटे बजट की तथाकथित कला फिल्मों जैसे श्याम बेनेगल की “अंकुर” और “मंथन” से शबाना और स्मिता, जल्दी ही भारतीय संस्कृति की प्रमुख प्रतिनिधि बन गईं और अस्सी के दशक में तो इन्होंने हिन्दी सिनेमा के नारी चरित्रों को बहुत ही प्रभावित किया। यहां तक कि स्वप्न-सुंदरी हेमामालिनी ने भी परंपरा तोड़ी और “खुशबू” तथा “किनारा” जैसी लीक से हटकर बनी फिल्मों में काम किया। राखी ने “27 डाउन” और राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त “तपस्या” में नारी

चरित्र के लिए एक नया और अलग स्वरूप स्थापित किया। रेखा और फिर श्रीदेवी ने भी समय-समय पर स्वयं को संशक्त अभिनेत्री के रूप में स्थापित किया। इनमें रेखा की “घर” और “उमराव जान”, तथा श्रीदेवी की “सदमा” और “सौतन” फिल्मों का उल्लेख किया जा सकता है।

सत्तर के दशक में व्यावसायिक फिल्मों की अभिनेत्रियों को वह मान और सम्मान मिला जो किसी जमाने में समाज सुधारकों और प्रबुद्ध व्यक्तियों को मिलता था। जया बच्चन को ऐसी ही उपलब्धि हासिल थी। “अभिमान”, “परिचय”, “कोशिश” और “मिली” जैसी फिल्मों में जया भादुड़ी बच्चन ने ऐसे किरदार निभाए जिन्हें आम जनता ने बहुत ही सराहा।

भा रतीय कथा फिल्मों ने अपने प्रारम्भिक वर्षों से ही भारतीय जीवन के शहरी और देहरी पहलू पर विशेष ध्यान दिया। यह बड़ा ही जीवन्त और पारम्परिक पहलू था। इसमें अभी नव्वे के दशक के मध्य में कुछ परिवर्तन आया।

जया बच्चन ने अपने फिल्मी जीवन में जितनी तरह के चरित्र अभिनीत किए, उनके लिए तो अलग से समीक्षा किए जाने की आवश्यकता है।

सत्तर और अस्ती के दशक की इन प्रतिभा सम्पन्न अभिनेत्रियों ने अपने से पूर्व की महान अभिनेत्रियों की दो पीढ़ियों का अनुसरण किया। एक पीढ़ी वह थी जिसमें गीता बाली, नर्गिस, मीना कुमारी और मधुबाला आदि और दूसरी पीढ़ी वह थी जिसमें नूतन, वहीदा रहमान और शर्मिला ठाकुर के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी अभिनेत्रियां सामाजिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण फिल्मों में काम करके अमर हो चुकी हैं। उनकी फिल्में, भारतीय सिनेमा के मुकुट में जड़े बेहतरीन जगहारत हैं।

1947 में स्वतंत्रता के बाद अभिनेत्रियों और नारी-चरित्रों का भारतीय सिनेमा में बड़ा योगदान रहा और इसे किसी भी दृष्टि से पुरुषों के योगदान से कम नहीं आंका जा सकता। प्रतिभाशाली अभिनेत्रियों की इन तीन पीढ़ियों को पिछले 60 वर्षों के दौरान भारतीय नारीत्व

के इतिहास के तीन अध्यायों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। यह भारतीय समाज में नारी के बदलते रूप वर्ग स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

भारतीय सिनेमा विशेषकर हिन्दी फिल्मों का एक बड़ा ही रोचक पहलू यह है कि इन्होंने सामाजिक बुराइयों को कभी भी सकारात्मक रूप में नहीं दिखाया। और वास्तव में यही कारण है कि लोकप्रिय सिनेमा भारतीयों के लिए संस्कृति का प्रतीक बन गया है। क्योंकि भारतीय दर्शक सिनेमा में अपने जीवन और उससे जुड़ी आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है।

जब समाज दिशाविहीन हो रहा हो तो सिनेमा पर भी इसका प्रभाव देखने को मिलता

आधुनिक युग में तीस के दशक से लेकर साठ के दशक तक भारतीय सिनेमा का मुख्य विषय सामाजिक समस्याएं ही रहा।

टहेज और बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों, नारी-शिक्षा, कामकाजी महिला की गरिमा, सामाजिक सुधार आंदोलन आदि की प्रधानता रही।

है। ऐसे समय में फिल्म निर्माण केवल मनोरंजन से भरपूर फिल्में बनाने तक सीमित हो जाते हैं। जब-जब समाज में परिवर्तन हुए तब-तब भारतीय सिनेमा ने इन विचारों को फिल्मों के जरिए देश भर में प्रचारित किया। दूसरी ओर, जब-जब सामाजिक परिवर्तनों में ठहराव आया, तो सिनेमा ने भी सामाजिक विचारों को त्याग कर विशुद्ध मनोरंजन वाली फिल्में बनाई।

लेकिन, यदि सर्वाधिक सफल फिल्मों की सूची तैयार की जाए तो हमें पता चलता है कि वही फिल्में सबसे जयादा सफल हुई हैं जिनमें लोकप्रिय मनोरंजन के साथ-साथ, समाज-सुधार और मानवीय विकास की आकांक्षाओं का सही मेल रहा। उपन्यास की भाँति फिल्म भी “सत्य उजागर” करने के लिए झूठ बोलती है। लोकप्रिय सिनेमा की संकर शैली है जिसकी शुरुआत तो पारम्परिक लोककथाओं से हुई किन्तु आज इसमें “पॉप” का तत्व भी शामिल है।

इस सम्बन्ध में एक सादृश्य यह है कि जहां आधुनिक विकास योजनाएं, आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में नई तकनीकें शुरू करना चाहती हैं, वहीं लोकप्रिय भारतीय फिल्में, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े व्यक्ति को, नई तकनीक से भली-भाँति परिचित करवाने का प्रयास करती हैं। इस प्रकार सिनेमा, तकनीकी और आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि में भारतीय संवेदनाओं को बड़े ही सुन्दर ढंग से पिरोकर दर्शकों के लिए फिल्म तैयार करता है। चूंकि सिनेमा स्वयं तकनीक की देन है अतः यह इस बात के लिए हमेशा सजग रहता है कि नई तकनीक का मानवीय रिश्तों और आकांक्षाओं पर असर पड़े। इसके लिए फिल्म बेशक वास्तविकता से परे ही क्यों न होती जाए, लेकिन सामाजिक विकास की गति से यह अपना रिश्ता कभी नहीं तोड़ पाती। सामाजिक संघर्षों और उपलब्धियों ने कई फिल्मों को प्रेरित किया क्योंकि हमारा सिनेमा समाज के घटनाक्रम का आईना है। ■

पृष्ठ 10 का शेष

बनना होगा, जो भारतीय समाज में बाहरी प्रभाव और विशेषकर टेलीविजन के जरिए हो रहे हैं।

श्रव्य-दृश्य माध्यम के प्रभाव से हम भली-भाँति परिचित हैं। अक्सर देखा गया है कि भारतीय जनभावनाओं को मापने का सही पैमाना लिखित साहित्य की बजाय सिनेमा ही सिद्ध हुआ है। फिल्म “रोजा” इसका ताजा उदाहरण है। देश के शिक्षित समुदाय पर जो प्रभाव इस फिल्म ने छोड़ा है, वैसा, मुद्रित सामग्री से सम्भव नहीं है। इसी तरह “प्रहार” जैसी फिल्म को जो जन स्वीकृति मिली है, वैसी मुद्रित साहित्य अपने पाठकों से हासिल नहीं कर सकता।

लगता है कि आने वाले दिनों में भारतीय सिनेमा, भारतीय समाज की सामाजिक विचारधारा को सही दिशा देगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस माध्यम पर निगरानी रखी जाए और ध्यान रखा जाए कि 21वीं सदी में सिनेमा के माध्यम से किस तरह की सामाजिक क्रांति लाई जा सकती है। ■

अनुचित

nsfdc

NSFDC

अ. नि. वि. नि.

प्रत्याव

राज्य स्तर की अ. जा./अ. ज. जा. निगमों तथा अन्य अधिकृत अधिकारों
द्वारा छेती, यातायात, रोवा सेक्टर, बागवानी, पश्चालन, लघु उद्योग
जैसी व्यवहार्य पोजनाओं के किसी भी क्षेत्र, जिसते अ. जा. एवं अ. ज. जा.
जिनकी आप गरबोडी रेखा के द्वारा तक है, उन्हें आप अपने तथा इलाज
का जवार प्राप्त हो सके, उनके लिए अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जै-
जाति को छयाज की रियायती दर पर वित्तीय सहायता दे रहा है।

× × × ×

३१, मार्च १९९५ को स्पष्ट ५६९. ॥ करोड़ की ७६। योजनारूप संस्कृत
की गई जिसमें निगम का रु २८९. ७४ करोड़ का सहयोग रहा। १-ठ
ताम्राद्वयों को ताम्र देते हुए तंयारी वितरण स्पष्ट २००. ६४ करोड़ तर
ते बढ़ा।

× × × ×

6346 अ. जा./अ. ज. जा. के ताम्राद्वयों को
ताम्र देते हुए १४२ प्रशिक्षण कार्यक्रम स्वीकृत
किए।

× × × ×

विस्तृत विवरण देते सम्पर्क करें:-
राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वित्त रवै
विकास निगम, ८, बालाजी एस्टेट, गुरुरधिदास मार्ग,
कालकाजी, नई दिल्ली - ११० ०१९

टेलीफोन नं.-६४६८९३६, ३८, ४०, ४६

अथवा

सम्बन्धित राज्य के अ. जा./अ. ज. जा. वित्त निगम

भारतीय सिनेमा के अग्रदूत

◆ जगमोहन ◆

लेखक ने सावे दादा, दादा साहेब फाल्के, आर्देशिर ईरानी आंदि भारतीय सिनेमा के शीर्ष पुरुषों की उपलब्धियों और उनके महान् योगदान की चर्चा की है। उनके अदम्य उत्साह, अथक प्रयासों और व्यक्तिगत त्याग ने इस देश में सिनेमा को किस प्रकार उसकी बुलंदियों तक पहुंचाया, पढ़िए इस लेख में।

भारतीय सिनेमा की पहली शताब्दी हर्षोल्लास का अवसर है। वैसे सच पूछा जाए तो ये समारोह सात जुलाई 1996 से शुरू माने जाने चाहिए क्योंकि 1896 में इसी दिन बंबई के वाटसन होटल में भारत के “सेल्युलॉइड संबंध” स्थापित हुए थे जैहाँ लुमियर बंधुओं ने अपने “सिनेमेटोग्राफ” प्रदर्शित किये थे।

इस अवसर पर लेखक नाटक तथा संबद्ध कलाओं और सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ भरत मुनि के “नाट्यशास्त्र” से एक उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा। इस ग्रंथ की रचना तीन हजार वर्ष पूर्व होने का अनुमान है। इसमें भरत मुनि ने “नाट्य” के बारे में जो कुछ कहा है उससे बेहतर न तो फिल्मी दुनिया का कोई जनसंपर्क अधिकारी कह सकता है और न फिल्मी सौंदर्यशास्त्र का कोई व्याख्याता। जो उन्होंने शताब्दियों पूर्व कहा था उसे यहाँ उद्धृत कर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करना उपयुक्त है क्योंकि वह भारत में और अन्यत्र सिनेमा के संदर्भ में भी सार्थक सिद्ध होता है, और आज भी लोगों के लिए दूसरी अफीम जैसा बना हुआ है।

स्वर्ग में देवताओं और असुरों के समक्ष पहली ही ‘नाट्य’ प्रस्तुति के समय अचानक जबर्दस्त हंगामा हो गया। असुर इस बात पर नाराज थे कि एक दृश्य में उन्हें सही ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया। उन्होंने नाटक बंद

कराने की धमकी दी। विरुपाक्ष ने दैत्यों और विष्णों के साथ ब्रह्मा से अपील की—“आपने नाट्य के माध्यम से जिस “नाट्य वेद” की शुरुआत की है, उसमें देवों के संकेत पर हमें अनुचित ढंग से चित्रित किया गया है। आपको यह शोभा नहीं देता क्योंकि आप तो सम्पूर्ण विश्व के रचयिता तथा देवों और दैत्यों दोनों के ही पिता हैं।

नाट्य : तब और अब

तब ब्रह्मा ने नाट्यसार बताते हुए असुरों को शांत किया। उन्होंने कहा—“नाट्य में एकमात्र तुम्हारा या देवों का अनुकरण नहीं है। नाट्य तो तीनों लोकों का भावनुकीर्तन (रचनात्मक अनुकृति) है।

“उसमें कभी कर्तव्यों का उल्लेख होता है, कभी क्रीड़ा का, कभी धन का, तो कभी शान्ति का। कभी उसमें हास्य होता है, कभी संघर्ष, कभी प्रेम तो कभी हत्या।”

“नाट्य कर्तव्यपरायण लोगों को कर्तव्य सिखाता है तो प्रेमातुर लोगों को प्रेम। वह कायरों को साहस और वीरों को उत्साह देता है। वह मूर्खों को बुद्धि और पंडितों को ज्ञान देता है।

“नाट्य से राजाओं का मनोरंजन होता है, शोकातुर व्यक्तियों को धैर्य मिलता है। धन प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को इससे धन

प्राप्ति के साधन प्राप्त होते हैं और उद्धिन लोगों को शान्ति मिलती है।”

जिस प्रकार मैंने “नाट्य” की रचना की है उसमें लोगों के कार्य-व्यवहार का अनुकरण होता है। वह विभिन्न भावों से ओत-प्रोत है और विभिन्न स्थितियों का चित्रण करता है। उसमें स्त्री-पुरुष, सज्जन-दुर्जन सभी के कार्यों को दिखाया जाता है और उससे सांहस, मनोरंजन तथा प्रसन्नता के साथ-साथ मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार नाट्य कार्य, भाव तथा अनुभूतियों के माध्यम से संबंधित लिए शिक्षाप्रद सिद्ध होगा।” यह दुख तथा अत्यधिक कार्य के भार से पीड़ित अभाग लोगों को राहत देगा और धर्मपालन के लिए प्रेरित करेगा। यह यश, दीर्घायु, विद्या और कल्याण की वृद्धि करेगा। यह लोगों को शिक्षा देगा।”

“कोई ऐसा सिद्धांत, ऐसा ज्ञान, ऐसा कला-कौशल, ऐसा साधन अथवा ऐसा कार्य नहीं है जो नाट्य में उपलब्ध न हो। इसीलिये मैंने नाट्य की रचना की है जिसमें ज्ञान के सभी अंग, विभिन्न कलाएं तथा समस्त कार्यकलाप एक साथ उपस्थित हों। वैदिक साहित्य से ली गई कहानियों और पौराणिक कथाओं को इस तरह सजाया-संवारा गया है कि उनसे आनन्द प्राप्त हो इसीलिए इन्हें “नाट्य” कहा गया है।”

“देवों तथा असुरों, राजाओं तथा गृहस्थों के कार्यों के अभिनय को नाट्य कहा जाता है और जब मानव स्वभाव को; उसके सुख-दुख को मुद्राओं, शब्दों, वेशभूषा तथा भावों के माध्यम से निरूपित किया जाता है, तब उसे भी नाट्य कहते हैं।”

सिने-संबंध

“नाट्यशास्त्र”的 रचयिता भरत मुनि को युगों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। उनके “भारतवर्ष” का सिने-संबंध पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों में लुमियर बंधुओं के “सिनेमेटोग्राफ़” के माध्यम से आरंभ हुआ। बंबई में प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय के सामने वाट्सन होटल (अब आर्मी-नेवी बिल्डिंग) में 7 जुलाई 1896 को शाम के सात बजे वह ऐतिहासिक क्षण आया, जब मानसून की रिमझिम वर्षा के बावजूद लोगों ने एक रूपया प्रति व्यक्ति प्रवेश शुल्क देकर इस अज्ञूबे को देखा।

वैसे भारत इस बात पर भी गर्व कर सकता है कि पेरिस में सिनेमेटोग्राफ़ के पहले प्रदर्शन के समय ही भारत का सिने-संबंध उससे जुड़ गया था। हुआ यह कि जब लुमियर बंधुओं ने कुछ महीनों पूर्व, 28 दिसंबर 1895 को पेरिस में अपने सिनेमाटोग्राफ़ का पहला प्रदर्शन किया तो वह बोलीवार्ड कैपुशिन्स में ग्रेंड कैफे के तलघर में हुआ जिसका नाम था सालों दे इंडिस अर्थात् भारतीय सभागार।

भारत और विशेषतः बंबई को लुमियर बंधुओं ने जो महत्व दिया, वह उल्लेखनीय है। यहां तक कि लंदनवासियों ने भी हमसे केवल पांच महीने पूर्व 20 फरवरी 1896 को विश्व के इस नवीन आश्चर्य से परिचय प्राप्त किया था। और यही नहीं जिस दिन बंबईवासी शताब्दी की इस अद्भुत खोज का आनंद ले रहे थे ठीक उसी दिन ऊस के जारी भी सेंट पीटर्सबर्ग में सिनेमाटोग्राफ़ का लुत्फ उठा रहे थे। यह बात सोचने पर मजबूर कर देती है कि क्या लुमियर बंधुओं को इसका पूर्वभास

हो गया था कि एक दिन भारत सबसे अधिक फिल्मों का निर्माण करने वाला देश बनेगा और दस वर्षों से भी अधिक समय तक साल-दर-साल अनेक भाषाओं में सबसे अधिक फिल्में बनाता रहेगा। विश्व में अधिकतर फिल्म निर्माता देश एक या दो भाषाओं में फिल्में बनाते हैं जबकि भारत में दर्जन भर से अधिक भाषाओं में फिल्में बनती हैं।

भारत में तथ्यप्रक फिल्मों का जनक होने का श्रेय इन्हीं अंग्रेजों द्वारा दर्शन करना चाहिए। क्योंकि यही तथ्यप्रक फिल्में (जिन्हें उस समय प्रासारित अथवा टॉपिकल कहा जाता था) और न्यूजीरील वृत्तचित्रों (डाक्युमेंट्री) की पूर्वज थीं। ये फिल्में कल्पना पर नहीं, तथ्यों पर आधारित थीं।

कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि विश्व की पहली कविता या पहला नाटक या फिल्म निर्माता, जार्ज मेलीज सलाह लेने के लिए लुमियर भाइयों के पास गये तो उनके पिता ने कहा—युवक! यह आविष्कार बिकाऊ नहीं है और फिर यह तुम्हें बरबाद कर देगा। हो सकता है कुछ समय के लिये एक वैज्ञानिक चमत्कार के रूप में इसका प्रचलन रहे लेकिन आगे चलकर इसका व्यावसायिक भविष्य कुछ नहीं है। लेकिन 1920 के दशक में फ्रांस के फिल्म समीक्षक से फिल्म निर्माता बने तुर्हिस देलुओ ने 1919 में घोषणा की थी—“हम एक असामान्य कला के जन्म में सहायक हो रहे हैं। एक ऐसी कला जो अभी से अपने पैरों पर खड़ी हो चुकी है और जिसमें अंपार संभावनाएं हैं। यह एकमात्र आधुनिक कला है जो मशीन और मानवीय आदर्श का संयुक्त प्रतिफल है।”

पैसठर्वी कला

हमें संतोष देने वाली एक ओर बात यह है कि जहां पाश्चात्य जगत के लिये सिनेमा सातवीं कला या दसवीं म्यूज़ के रूप में जाना गया वहीं भारत के लिये यह पैसठर्वी कला है। हमारे यहां पहले से ही चौंसठ कलायें विद्यमान थीं और वे सब सिनेमा की सहयोगी बनीं। सिनेमा ने भारत और विश्व के अन्य भागों में जनता को वह तमाम बातें उपलब्ध कराई जिनका उल्लेख ब्रस्टा ने भरत मुनि के “नाट्यशास्त्र” में किया था।

कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह

सकता कि विश्व की पहली कविता या पहला नाटक या फिर पहली कथा कव और कहां लिखी गई या उसका रचयिता कौन था। किन्तु विश्व के इतिहास में पहली बार यह संभव हुआ है कि हम सिनेमा के जन्म की तिथि निश्चित रूप से बता सकते हैं, वह चाहे लुमियर भाइयों का “सिनेमेटोग्राफ़” हो या थॉमस अल्वा एडिसन का “काइनेटोस्कोप” अथवा “विटास्कोप” हो या फिर उससे पूर्ववर्ती एमिलरेनॉड का “प्रैक्सिनोस्कोप”। आइये, हम इस अवसर पर सिनेमा के क्षेत्र के उन तमाम अंग्रेजों को श्रद्धांजलि अर्पित करें—एथेनेसियस कर्चर से एडवर्ड मेब्रिहं, एटियन जूल्स मेरे से विलियम फ्रांज ग्रीन, लियां गॉमैट से चार्ल्स पैथे और मैक्स स्क्लाइनवस्की से जार्ज मेलीज तक और साथ ही कोडेक के जार्ज ईस्टमैन, सभी इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण नाम हैं। ये सभी मूर्खी पिक्चर्स के प्रदर्शन के लिये समय से तेज रस्तार से दौड़ने के प्रयास में लगे हुए थे, कभी एक-दूसरे के सहयोगी बनकर और कभी प्रतिस्पर्धियों के रूप में।

सबसे विचित्र बात यह है कि जब उन दिनों के फंतासी फिल्म निर्माता, जार्ज मेलीज सलाह लेने के लिए लुमियर भाइयों के पास गये तो उनके पिता ने कहा—युवक! यह आविष्कार बिकाऊ नहीं है और फिर यह तुम्हें बरबाद कर देगा। हो सकता है कुछ समय के लिये एक वैज्ञानिक चमत्कार के रूप में इसका प्रचलन रहे लेकिन आगे चलकर इसका व्यावसायिक भविष्य कुछ नहीं है। लेकिन 1920 के दशक में फ्रांस के फिल्म समीक्षक से फिल्म निर्माता बने तुर्हिस देलुओ ने 1919 में घोषणा की थी—“हम एक असामान्य कला के जन्म में सहायक हो रहे हैं। एक ऐसी कला जो अभी से अपने पैरों पर खड़ी हो चुकी है और जिसमें अंपार संभावनाएं हैं। यह एकमात्र आधुनिक कला है जो मशीन और मानवीय आदर्श का संयुक्त प्रतिफल है।”

सावे दादा

बंबई में लुमियर प्रदर्शनों के नियमित दर्शक

और नाचती थी।’। इस फिल्म ने भारतीय जनता को मन्त्रमुग्ध कर दिया और इसी की प्रेरणा से विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा पड़ोसी देशों की भी भाषाओं में फिल्मों का निर्माण आरंभ हुआ। बंबई के इम्पीरियल मूवीटोन के बैनर तले बनी इस फिल्म में मास्टर विठ्ठल, मिस जुबेदा, मिस सुशीला, मिस जिल्लू एलिजर, पृथ्वीराज कंपूर और जगदीश जैसे कलाकार थे। यह पूरी तरह ‘जीती-जागती, सौ फीसदी बोलती तस्वीर थी, जिसमें एक ही बैनर तले रोमांस, बुद्धि और प्रतिभा का अद्भुत सामंजस्य था।’

यह “बोलती” फिल्म 14 मार्च 1931 को मैजेस्टिक सिनेमा में प्रदर्शित हुई। भारतीय सिनेमा के इतिहास में यह अविस्मरणीय क्षण था। फिल्म के संवाद संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और फारसी मिश्रित उर्दू की मिली-जुली भाषा में थे। कुछ ऐसी ही भाषा में इसके सातों गीत थीं, जिन्होंने मधुर संगीत के सहारे दर्शकों का मन मोह लिया। इसका पहला गीत डब्ल्यू एम. खान की आवाज में रिकार्ड हुआ था, जो “महज़ रिकार्डिंग मशीन को काम करते देखने के लिए आये थे।” उनकी आवाज अच्छी थी और रिकार्डिंग के योग्य थी। जब उन्होंने पश्तो भाषा का एक गीत सुनाया तो उन्हें फिल्म में एक फकीर की भूमिका मिल गई। उन्होंने टिप्पणी की थी कि “उन दिनों हमें सांस लेने का समय लिये बिना गाना पड़ता था और कैमरा भी साथ-साथ चलता था। अगर हमसे कहीं भूल हो जाती या कहीं अटक जाते तो यह सारी प्रक्रिया फिर दोहरानी पड़ती थी।” मने की बात यह है कि इस फिल्म के हीरो ने एक भी गाना नहीं गाया था।

जब वर्षों बाद आर्देशिर ईरानी का उनकी उल्लेखनीय उपलब्धियों के लिए अभिनंदन किया गया, तब उन्होंने विनप्रता से कहा था—“मुझे नहीं लगता कि मुझे भारत की पहली सवाक् फिल्म बनाने के लिये इतना अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। मैंने तो सिर्फ़ इस राष्ट्रीय उद्योग के लिये अपना योगदान दिया है। मेरा फिल्मी जीवन तो सिर्फ़

फिल्म उद्योग के एक अदनाकर्मी का जीवन है।”

आर्देशिर ईरानी जरूरत से ज्यादा विनप्रता थे। 1885 में पूना में जन्मे ईरानी ने विदेशी फिल्मों के वितरक के रूप में जीवन शुरू किया था। वे उस समय के सुप्रसिद्ध फिल्म प्रदर्शक अद्वुल अली युसुफ अली के पार्टनर बने जिनका अलेक्जेंडर सिनेमा नवीनतम उपकरणों और आडिटोरियम डिजाइन के लिये जाना जाता था। कुछ समय के लिये वे यूनिवर्सल पिक्चर्स के भारतीय प्रतिनिधि भी रहे। लेकिन दादा साहेब फाल्के की सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने भी निर्माता-निर्देशक बनने का निर्णय किया। तभी उन्होंने युसुफअली और मो. अली रंगवाला के साथ इम्पीरियल मूवीटोन की स्थापना की, जिसने बाद के वर्षों में बहुत नाम कमाया।

दादा साहेब को जिस तरह “लाइफ आफ क्राइस्ट” से प्रेरणा मिली उसी तरह खान बहादुर को “शोबोट” (चालीस प्रतिशत बोलती विदेशी) फिल्म ने प्रेरणा दी। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा था—“जब मैंने “शोबोट” देखी, तो मुझे भारत में सवाक् फिल्म बनाने की प्रेरणा मिली। शुरू में यह योजना बेहद जोखिम भरी लग रही थी क्योंकि भारत में हमारे पास न तो कोई सुविधाएं थीं, न उपकरण थे और न ही कोई अनुभव था। फिर भी मैंने इस दिशा में आगे बढ़ने का फैसला किया क्योंकि अपनी राष्ट्रीय भाषा में फिल्म बनाने का लोभ बहुत जबरदस्त था।”

जैसाकि फाल्के साहेब के साथ हुआ था, ईरानी के भी साथियों और दोस्तों ने उन्हें हतोत्साहित किया। उनके प्रतिस्पर्धियों ने तो इश्तहार भी लगवाये कि “फिल्मों में मौन सुनहरा होता है।” लेकिन ऐसे तमाम लोग जो आलमआरा को देखने और उसका मजाक बनाने आये थे, आखिरकार उनसे माफी मांगने भी आये।

भारतीय भाषाओं की फिल्में

पश्चिमी और दक्षिणी भारत में आर्देशिर

ईरानी तथा पूर्वी भारत, बर्मा और सीलोन में मदन भाइयों द्वारा सवाक् फिल्मों को लोकप्रिय बनाने के फलस्वरूप विभिन्न भारतीय भाषाओं की फिल्मों की बहुत मांग थी। जगह-जगह उत्साही निर्माता-निर्देशक बढ़ते जा रहे थे। 1931 में आलम-आरा के साथ-साथ 22 अन्य हिन्दी फिल्में, 3 बंगाली, 1 तमिल तथा 1 तेलुगु फिल्म भी प्रदर्शित हुई। इससे अगले वर्ष 8 मराठी और 2 गुजराती फिल्मों ने पश्चिमी भारत के दर्शकों का मनोरंजन किया। 1933 में 75 हिन्दी फिल्में बनीं। इन सभी बड़ी भाषाओं में पहली सवाक् फिल्में बनाने वालों को भी श्रद्धांजलि अर्पित की जानी चाहिए। 1931 में ‘जमाई घट्ठी’ (बंगाली), ‘कालिदास’ (तमिल), ‘भक्त प्रह्लाद’ (तेलुग); 1932 में ‘संत तुकाराम’ (मराठी), तथा ‘नरसी मेहता’ (गुजराती) फिल्में बनी थीं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस विशाल भारत भूमि के प्रान्तीय गुटों की अपनी-अपनी जातीय तथा प्रांतीय विशेषताएं विभिन्न भाषाओं में बनी फिल्मों में भी प्रतिबिंबित होती हैं। इसी के फलस्वरूप फिल्म निर्माण के नये केन्द्र पुणे, कोल्हापुर, मद्रास, सेलम, कोयम्बटूर और विभाजन-पूर्व लाहौर में बने।

सवाक् फिल्मों के साथ भारतीय फिल्मों की प्रमुख विशेषता गीत संगीतमय शैली सामने आई। हिन्दी फिल्म “इन्द्रसभा” में 60 गीत थे। एक तमिल फिल्म में चालीस गीत थे। चूंकि सारे कलाकार, हीरो-हीरोइन अच्छे गायक-गायिकाएं भी हों, यह जरूरी नहीं, इसीलिये फिल्मों में पार्श्व गायन (और रिकार्डिंग) की शैली प्रचलित हुई। फिर एक ऐसा समय आया जब पार्श्व गायक-गायिकाएं कलाकारों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये और यह ऐसे देश में स्वाभाविक ही था जहां नाट्यशास्त्र के विशेषज्ञ भरत मुनि ने कहा था—“वाद्ययंत्र किसी भी नाट्य प्रस्तुति का आधार होते हैं।” एक अन्य संस्कृति नाटककार ने अपने नाटक में अनेक गीतों के संमावेश के बारे में यह दलील दी कि “ये गीत श्रोताओं-दर्शकों का मनोरंजन करते हैं और भावनात्मक तादात्पर्य स्थापित करते हैं।”

सिनेमा प्रदर्शन व्यवसाय के लिये

घातक-सिनेमा टिकटों की कालाबाजारी भी इसी समय की देन है। आलम आरा को देखने और उसके संवादों और गीतों को सुनने की लोगों में ऐसी होड़ सी लगी थी कि वे चार आने के टिकट को चार रुपये तक देकर खरीदने के लिए तैयार थे। यह जुनून आज तक जारी है और आज भी दस रुपये के टिकट कभी-कभी सौ रुपये तक में बिकते हैं।

कलकत्ता में भी फिल्मी गतिविधियां जोरों पर थीं। बंबई के एक पारसी, जमशेदजी फ्रेमजी मुदन ने बंगाल में वितरण प्रदर्शन का विशाल नेटवर्क स्थापित किया जो सीलोन, बर्मा और अन्य भागों तक फैला हुआ था। उन्होंने लघु फिल्मों के निर्माण में धन लगाया। इस क्षेत्र का एक और व्यावसायिक उद्यम था—अनादि बोस और देवी बोष द्वारा स्थापित आरोरा सिनेमा कंपनी, जो अब तक चल रही है। कलकत्ता में बीरेन्द्रनाथ सरकार के न्यू थियेटर्स ने धीरेन गांगुली, पी.सी. बरुआ, के.एल. सहगल, नितिन बोस, प्रेमांकुर अतोर्थी जैसी प्रतिभाओं को बढ़ावा दिया। यहाँ तक कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर भी फिल्मों के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। उन्होंने न्यू थियेटर्स के बैनर तले “नटीर पूजा” का निर्देशन किया।

बंबई में इंपीरियल फिल्म कंपनी कोहिनूर स्टूडियो, बाम्बे टाकीज, याडिया मूवीटोन तथा अन्य स्टूडियो परिसरों ने निर्माता, निर्देशक, अभिनेता, अभिनेत्री, कैमरामैन, आडियोग्राफर आदि के रूप में अनेकानेक प्रतिभाओं को आगे बढ़ने के कई अवसर उपलब्ध कराये। इनमें थे—देविका रानी और उनके पति हिमांशु राय, गौहर और चंदूलाल शाह, शांताराम, फतेहलाल और दामले, “हंटरवाली” नादिरा और अनगिनत अन्य लोग।

मद्रास में आर. नटराज मुदलियार, आर. वेंकैया और उनके पुत्र सूर्य प्रकाश इस क्षेत्र के अग्रणी नाम थे।



सत्यजित राय

भारतीय सिनेमा उद्योग ने प्रारंभ से ही समाज के हर वर्ग से स्वशिक्षित फिल्म निर्माताओं और कलाकारों को आकृष्ट किया। आज भी फिल्मों के साथ हर जाति, धर्म और वर्ग के नाम जुड़े दिखाई देते हैं।

भारतीय सिनेमा ने पत्रकारिता की एक नई विद्या फिल्म पत्रकारिता को भी जन्म दिया, जिसमें मसाला, सैक्स, चटपटी बातों के साथ सिनेमा के सौंदर्यबोध पर गंभीर लेखन भी प्राप्त होता है। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं में पहली थी “विजंती”, नलिनीकांत सरकार द्वारा प्रारंभ की गई बंगाली साप्ताहिक पत्रिका, जो 1920 के दशक में बहुत लोकप्रिय हुई। इसी तरह की पत्रिकाएं अन्य भाषाओं और अंग्रेजी में भी आरंभ हुईं। इन सभी की काफी विक्री भी होती थी।

इस लेख में सब अग्रदूतों को श्रद्धांजलि नहीं दी जा सकी किन्तु वह प्रयास अवश्य किया गया कि कम-से-कम उन कुछ लोगों को स्मरण किया जाये जिन्होंने सिनेमा के विकास

को एक निश्चित दिशा प्रदान की। सत्यजीत राय (1921-92) के उल्लेख के बिना यह लेख अपूर्ण रहेगा। वे कई मायनों में पथ-प्रदर्शक थे, एक ऐसे निर्माता-निर्देशक जिनका अपनी फिल्मों के हर पक्ष पर संपूर्ण अधिकार था और जिन्होंने अपनी एक पृथक शैली बनाई। भारतीय सिनेमा के सौ वर्षों के इतिहास में वे एकमात्र ऐसे भारतीय फिल्म निर्माता हैं, जिन्हें भारत के सर्वोच्च सम्मान ‘भारत रत्न’ तथा हालीवुड की ‘मोशन पिक्चर आर्ट्स एंड साइंसेज एकेडमी’ की ओर से जीवनभर की उपलब्धियों के लिये आस्कर से सम्मानित किया गया। अंग्रेजी, बंगाली और अन्य भाषाओं में उनके और उनकी फिल्मों के बारे में बीस से अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं। यही नहीं, उनकी 30 से अधिक फिल्मों के उद्घरणों से भरपूर आधा दर्जन से अधिक फिल्में भी उन पर बनी हैं। भारतीय सिनेमा को उनका योगदान बहुआयामी है और इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश के बाद भी उनका स्थान सुरक्षित रहेगा। ■

वृत्तचित्र फिल्में और विकास

■ तपन के बोस ■

वृत्तचित्र को यद्यपि सामान्यतः सूचनाओं, धारणाओं और विचारों के प्रसार तथा विकास के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है, लेकिन यह व्यक्ति में परिवर्तन लाने में स्वतः समर्थ नहीं है। लेखक का मानना है कि लोगों की मनोवृत्ति में बदलाव और उनके द्वारा नए विचारों का ग्रहण अनेक प्रकार की राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओं पर निर्भर करता है।

सिनेमा का प्रारम्भ वृत्तचित्र के रूप में हुआ था। आज “वृत्तचित्र” शब्द को हम जिस रूप में जानते हैं वह ब्रिटिश वृत्तचित्र आंदोलन के जनक जॉन ग्रायर्सन ने 1926 में गढ़ा था। ग्रायर्सन ने वृत्तचित्र का वर्णन, एक ऐसी फिल्म के रूप में किया था जो वास्तविकता का सृजनात्मक निरूपण करती है।

सिनेमा का विकास एक उद्योग—मनोरंजन उद्योग के रूप में हुआ। सुस्पष्ट कारणों की वजह से फिल्म उद्योग के समन्तों ने फीचर फिल्म का समर्थन किया। उन्होंने कला के इस रूप की नियति को बांक्स आफिस की दासता में जकड़ दिया और इस प्रकार कला रचना में सर्जनात्मक स्वतंत्रता के लिए फिल्म निर्माता के संघर्ष की त्रासद कहानी की शुरुआत हुई जो कि सरकारी तंत्र तथा पैसे के बड़े-बड़े लोभियों द्वारा रची गई थी।

प्रत्येक उद्योग का अपना अंतर्दृष्ट होता है। प्रयोगात्मक और अनुकरणात्मक सिनेमा तथा कला और वाणिज्य के बीच के अंतर्विरोध ने वृत्तचित्र सिनेमा आंदोलन को मान्यता दी। वृत्तचित्र फिल्म निर्माताओं ने स्टूडियो के मालिकों के नियंत्रण को स्वीकार नहीं किया तथा वे स्टूडियो से बाहर निकलकर खेतों और फैनिट्रों में जाकर जीवन के यथार्थ को लेकर फिल्में बनाने लगे। यथार्थ जीवन के कटु सत्यों के साथ उनके संघर्ष ने उत्तेजनात्मक सिनेमा की जन्म दिया जिसने यथार्थवाद, दादागिरि, अतियथार्थवाद नवयथार्थवाद तथा प्रतीकवाद के प्रयोग किए। इसने स्थापित सिनेमाटोग्राफिक पद्धति को भी चुनौती दी।

स्थापित फिल्म उद्योग और वृत्तचित्र फिल्म आंदोलन के बीच के अंतर्विरोध विश्व युद्ध के

पश्चात् और भी तेज हो गए। विश्व-युद्ध के दौरान तथाकथित मुक्त विश्व के प्रचारकों तथा नाजियों दोनों ही के द्वारा वृत्तचित्र को प्रचार के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया गया। इससे अधिकतर सरकारें वृत्तचित्र फिल्मों को सामाजिक विज्ञापन तथा शिक्षा का अच्छा माध्यम मानने लगीं। युद्ध के पश्चात् अधिकतर देशों में ऐसे वृत्तचित्रों के लिए धन उपलब्ध कराया गया।

जैसे ही शीत-युद्ध तेज हुआ पश्चिमी देशों की सरकारें चाहती थीं कि वृत्तचित्र निर्माता साम्यवाद विरोधी प्रचार फिल्में बनाएं, जबकि सेवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के फिल्म निर्माताओं पर राजकीय पद्धति अपनाने के लिए जोर डाला गया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में तो वामपंथी विचारों से सहानुभूति रखने वाले फिल्म निर्माताओं को जादूगिरी से सताने का तरीका तक शुरू किया गया। पश्चिमी यूरोप के अधिकतर देशों में सेवियत फिल्में पर रोक लगा दी गई। भारत में ऐसी वृत्तचित्र फिल्में, जिनमें राजकीय पद्धति को लगभग उसी तरीके से लागू किया जाता था, बनाने और वितरण करने के लिए फिल्म प्रभाग की स्थापना की गई।

क्या फिल्में लोगों की मनोवृत्ति में बदलाव ला सकती हैं? क्या लोग जो कुछ भी सिनेमा के पर्दे पर देखते हैं उसे सच मान लेते हैं? अगर यह सच होता तो फिर साम्बद्धायिक सद्भाव का सदेश देने वाली सैकड़ों फिल्में लोगों को बदलने में असफल रहती होतीं। लेखक का विचार है कि इसकी वास्तविकता की पुरारचना की आभासी क्षमता के कारण हमने हमेशा सिनेमा की क्षमता का आंकलन अपेक्षा से अधिक किया है।

पचास के दशक में वृत्तचित्र आंदोलन का युद्धकारी फिल्मों, प्रतिवाद फिल्मों और प्रत्यक्ष सिनेमा के रूप में पुनरोदय हुआ। वृत्तचित्र फिल्मों तथा विश्व सिनेमा के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण तीन आंदोलनों—ग्रेट ब्रिटेन में स्वतंत्र सिनेमा, फ्रांस में नई लहर और संयुक्त राष्ट्र अमरीका में व्यवस्था विरोधी सिनेमा के बीच संबंध को नकारा नहीं जा सकता है।

पश्चिम के विपरीत, भारत में वृत्तचित्र सिनेमा केवल सरकारी उपक्रम के अधीन रहा, क्योंकि निजी तौर पर वृत्तचित्र फिल्में बनाने का जोखिम उठाने वाले भारतीय फिल्म निर्माताओं पर बहुत कम ही थे। ऊँची फिल्म निर्माण लागत, फिल्म प्रभाग थिएटर संबंधी वितरण नेटवर्क पर एकाधिकृत नियंत्रण तथा फिल्म सेंसर बोर्ड की व्यवस्था विरोधी घटकों के लिए ज्ञात अनिच्छा जैसे कई अवरोध निजी वृत्तचित्र फिल्म निर्माताओं को निरुत्साहित करते थे। अतः वे फिल्म प्रभाग के लिए ही फिल्में बनाते रहे। स्वतंत्र वृत्तचित्र फिल्म निर्माता, जिन्हें फिल्म प्रभाग द्वारा बाहरी निर्माता कहा जाता था, मात्र आर्डर सप्लायर की तरह माने जाते थे। उनसे कठोर अनुबंधों पर हस्ताक्षर करवाए जाते थे, जो कि उन्हें अफसरशाही के निर्देशों से बांध देते थे। किसी भी प्रकार का विवाद होने पर केवल उच्च स्तर के अधिकारियों को ही अपील की जा सकती थी।

नौकरशाही और फिल्म निर्माताओं के बीच संबंध ही भारतीय वृत्तचित्रों के स्वरूप को निर्धारित करते थे। सरकार ने विचारों,

योजनाओं और कार्यक्रमों के प्रचार के लिए वृत्तचित्र फिल्मों में पूँजी निवेश किया। उन्हें सूचना, विकास, धारणाओं और विचारों के प्रचार के लिए वृत्तचित्र सिनेमा एक उपयोगी माध्यम लगा। दूसरे शब्दों में वृत्तचित्र फिल्मों को सामाजिक विज्ञापन का एक ऐसा माध्यम माना गया जो अपने संदेशों से दर्शकों के आचार-व्यवहार में बदलाव ला सकता था। वृत्तचित्र फिल्मों का वर्गीकरण सूचना फिल्मों, शिक्षाप्रद फिल्मों, प्रेरक फिल्मों और विकास फिल्मों के रूप में किया गया।

क्या फिल्में लोगों की मनोवृत्ति में बदलाव ला सकती हैं? क्या लोग जो कुछ भी सिनेमा के पर्दे पर देखते हैं उसे सच मान लेते हैं? अगर यह सच होता तो फिर साम्प्रादायिक सद्भाव का संदेश देने वाली सैंकड़ों फिल्में लोगों को बदलने में असफल क्यों होतीं? लेखक का विचार है कि इसकी वास्तविकता की पुनर्जनन की आभासी क्षमता के कारण हमने हमेशा सिनेमा की क्षमता का आंकलन अपेक्षा से अधिक किया है। हाँ, फिल्में यथार्थ की नकल जरूर करती हैं लेकिन दर्शक यह अच्छी तरह समझते हैं कि सिनेमा के पर्दे पर दिखाया जाने वाला सच, यथार्थ की नकल मात्र है तथा वे यह भी जानते हैं कि फिल्मों में दिखाया जाने वाला यथार्थ फिल्म निर्माताओं के मूल्यों और विचारधाराओं पर आधारित है। दूसरे शब्दों में यद्यपि यह पूर्णतः प्रचारक नहीं होता पर फिर भी यह सदैव अपने में मूल्यों को समेटे हुए तो होता ही है, जिन्हें दर्शक सिनेमा के पर्दे पर देखकर अपना मानस बना सकते हैं, क्योंकि ये सब आंखों के सामने से ओझल होते ही दर्शक वास्तविकता की दुनिया में लौट आते हैं।

अन्य शब्दों की भाँति “विकास” भी मूल्यों से समाहित शब्द है। एक के लिए जो विकास है, जरूरी नहीं कि दूसरों की नजर में भी उसे विकास ही माना जाए। विकास के कोई सर्वमान्य प्रतिमान नहीं हैं। फिर भी विकास का आधिकारिक विचार है। यह वही है जिसकी हम वृत्तचित्र फिल्मों द्वारा लोगों को दिखाने की अपेक्षा करते हैं, लेकिन जब हम

फिल्मों की विकास के साधन के रूप में चर्चा करते हैं तब हम केवल इसकी संदेश देने की ही बात नहीं करते, वास्तव में हम फिल्मों से दर्शकों के संदेश दूर करने, उनके विचारों को बनाने तथा उनके आचार-व्यवहार को बदलने की अपेक्षा करते हैं।

प्रचास के दशक में वृत्तचित्र आंदोलन का

युद्धकारी फिल्मों, प्रतिवाद फिल्मों और प्रत्यक्ष सिनेमा के रूप में पुनरोदय हुआ। वृत्तचित्र फिल्मों तथा विश्व सिनेमा के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण तीन आंदोलनों—ग्रेट ब्रिटेन में स्वतंत्र सिनेमा, फ्रांस में नई लहर और संयुक्त राज्य अमरीका में व्यवस्था विरोधी सिनेमा, के बीच संबंध को नकारा नहीं जा सकता।

वृत्तचित्र फिल्में अथवा यहाँ तक कि कल्पित फिल्मों द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति होती हो ऐसा बहुत कम देखने में आता है। तथापि फासीवादी और साम्यवादी जैसी नियंत्रित सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में प्रभावी विचारधारा को लागू करने और सुनिश्चित करने में प्रचार फिल्मों ने अपनी सक्षमता का परिचय दिया, इसीलिए शीत युद्ध के शुरुआती दिनों के दौरान मुक्त विश्व की सरकारें, चर्च और विशिष्ट राजनीतिक वर्ग वामपंथियों की ओर बेतहाशा बढ़ने लगे और मकार्थवाद पनपने जैसा वातावरण बन गया। उन दिनों वामपंथियों को लोकतंत्र का शत्रु दिखाने वाली फिल्में भी उतनी ही सफल थीं। पचासवें और साठवें दशकों में पश्चिम के फिल्म निर्माताओं का, सरकार द्वारा प्रायोजित फिल्मों का विरोध, इस प्रकार की फिल्मों पर प्रतिक्रिया स्वरूप था।

व्यावसायिक विज्ञापन फिल्में भी प्रचार फिल्में ही हैं। ये लोगों की मनोवृत्ति बदलने का प्रयास नहीं करतीं। ये सफल इसलिए हैं क्योंकि ये उपभोक्ता की चुनाव की स्वतंत्रता और उसके अच्छी किस्म के उत्पादों की खरीद के अधिकार के भुलावे को बढ़ावा देती हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य लोगों को अपने ब्रांड नामों से अवगत कराना है। उदाहरण के लिए टैल्कम पाउडर की विभिन्न किस्मों के विज्ञापन

के लिए उपभोक्ता को संबंधित ब्रांडों के नामों से अवगत कराते हुए इस प्रसिद्ध मान्यता, कि टैल्कम पाउडर का प्रयोग करना अच्छा है क्योंकि यह पर्सीने को रोकता है तथा शरीर की दुर्गंधि को कम करता है, को भी बल देता है। लेकिन यदि फिल्म यह विज्ञापित करने का प्रयास करती है कि टैल्कम पाउडर का इस्तेमाल अनुचित है क्योंकि यह त्वचा के छिपों को भर देता है तथा इसके निरंतर प्रयोग से कैंसर हो सकता है तो यह भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञित होती। संभव है कि इसके संदेश को अधिकतर दर्शक अस्वीकार कर देते, क्योंकि पर्सीना आना या शरीर से दुर्गंध आना लोगों को प्रिय नहीं लगता। आज साफ-सुधरे घरों में रहना और पर्सीने से रहित तरोताजा लगना ही अच्छा जीवन जीने का धोतक है।

संक्षेप में वृत्तचित्र यद्यपि लोगों को सूचित कर सकता है, संदेश दे सकता है और यहाँ तक कि अपने दर्शकों को प्रभावित भी कर सकता है लेकिन इसमें लोगों को बदलने की क्षमता निश्चित रूप से नहीं है। लोगों की मनोवृत्ति में बदलाव तथा उनके द्वारा नए विचारों का स्वीकारा जाना सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक आवेगों के प्रकार पर निर्भर करता है। प्रचार नियंत्रण की स्थितियों में सफल होता है। समाज में जितना खुलापन आएगा, प्रचार की सफलता की संभावना उतनी ही कम होती चली जाएगी। व्यावसायिक विज्ञापन पूँजीवाद में सफल होता है जहाँ कि उपभोक्तावाद को सरकार और समाज की विचारधारा की तरह बढ़ावा दिया जाता है।

इस प्रकार वृत्तचित्र विकास का माध्यम नहीं हो सकता लेकिन यह लोगों की संभावनाओं और क्षमताओं से निश्चित रूप से अवगत करा सकता है। लोग इन विचारों को स्वीकार करेंगे या नहीं यह सरकार की विश्वसनीयता और उसके कार्य निष्पादन पर निर्भर करता है। ■

फिल्म सोसायटी आंदोलन

विद्यार्थी चर्टजी

अच्छे सिनेमा को बढ़ावा देने में फिल्म सोसायटी आंदोलन की बेजोड़ भूमिका की आवश्यकता को खोलकित करते हुए लेखक को इस बात पर खेद है कि न केवल हमारे देश में बल्कि विश्व भर में इसका पतन हो रहा है। लेखक के अनुसार इसका प्रमुख कारण वीडियो का तीव्र विकास है।

भारत में फिल्म सोसायटी आंदोलन का

नेतृत्व सत्यजित राय ने किया। उन्हें इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने विश्व-भर के फिल्म सौदर्यवादियों का ध्यान भारतीय सिनेमा की ओर आकृष्ट किया। लगभग आधी शताब्दी पहले इस आंदोलन की शुरुआत उस समय हुई थी जब राय और उनके मित्रों ने यूरोपीय और हॉलीवुड की फिल्मों को देखने के लिए एक समूह की स्थापना की। फिल्मों को देखने के बाद वे उनके बारे में विचार-विमर्श करते थे और कभी-कभी फिल्मों पर लिखते थे। फिल्म समीक्षक के रूप में चिदानन्द दासगुप्त अथवा वंशीचन्द्र गुप्त जो कला फिल्म निर्देशक के रूप में विख्यात हैं, अथवा फिल्म निर्माता के रूप में स्वयं सत्यजित राय का उदय पांचवें दशक के उत्तरार्द्ध और छठे दशक के शुरू के उस उत्तेजनापूर्ण काल में हुआ था जब ये लोग युवा थे और अपने को उस भूमिका के लिए तैयार कर रहे थे, जो उन्हें आने वाले वर्षों और दशकों में निभानी थी। इन विभूतियों ने अगर सामूहिक रूप में फिल्में देखकर उन पर विचार-विमर्श और टिप्पणियां न की होतीं तो ये संभवतः वह विशिष्ट योगदान न कर पातीं, जो परवर्ती काल में इन्होंने किया। राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाने में देश का नेतृत्व करने वालों में कुछ लोग ऐसे थे, जिन्होंने कला और संस्कृति के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा की। जवाहर लाल नेहरू ने इस काम में फिल्म माध्यम की क्षमता और महत्व को तत्काल पहचान लिया था। वे इस बात का अतिरिक्त ख्याल रखते थे कि दूसरे देशों के लोग भी राजकपूर की फिल्में देखें और साथ ही उन्होंने राय द्वारा

तैयार की गयी उदात्त मानवीय फिल्मों में भी कम रुचि नहीं दिखलायी। यह ऐसा समय था जब फिल्म सोसायटी आंदोलन, विशेषकर देश के पूर्वी हिस्से में मजबूत और लोकप्रिय होता जा रहा था। फिल्म आंदोलन की सरकार ने भी किसी तरह की उपेक्षा नहीं और वह धीरे-धीरे अपने पैरों पर खड़ा होने लगा। किन्तु श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस आंदोलन को सरकारी सहायता देने में अधिक उदारता दिखायी। श्रीमती गांधी के रचनात्मक रूपये का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि एक फिल्म निर्माता और कलाकार के रूप में सत्यजित राय के प्रति उनके मन में गहरी आस्था थी। एक आंदोलन जिसका नेतृत्व सत्यजित राय जैसा व्यक्तित्व कर रहा हो और श्रीमती इंदिरा गांधी जिसकी कर्णधार हों, उसके बारे में इस बात की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उसे संरक्षण का कोई अभाव होगा। जीवन के अंतिम क्षण तक सत्यजित राय भारतीय फिल्म समितियों के परिसंघ के अध्यक्ष रहे। यह परिसंघ देश भर में फिल्म कलावों की गतिविधियों में समन्वय और निगरानी करने वाला शिखर संगठन है। सत्यजित राय का व्यक्तित्व इतना भव्य था और हर किसी से उन्हें इतना सम्मान मिला था कि परिसंघ की जटिल से जटिल समस्या भी उनके एक वाक्य मात्र से हल हो जाती थी। किन्तु उनके देहान्त के बाद चीजें बिगड़ने लगीं और परिसंघ की गतिविधियां वैसी नहीं रहीं, जैसी पहले हुआ करती थीं।

सिनेमा के क्षेत्र में अत्यन्त समृद्ध माने जाने वाले फ्रांस, जर्मनी और भूतपूर्व सोवियत संघ जैसे यूरोपीय देशों में हालांकि फिल्मों का

कोफी अध्ययन हो चुका था, फिर भी फिल्म सोसायटी आंदोलन की गतिविधियां महायुद्ध के बाद के काल में ही सक्रिय हुईं। आधुनिक युग के फ्रांस अथवा पूर्वी यूरोपीय देशों के कुछ अत्यन्त विशिष्ट निर्देशकों ने आंदोलन से बहुत कुछ ग्रहण किया। हमारे देश में विशेषकर राय के बाद प्रत्येक महत्वपूर्ण फिल्म निर्माता, फिल्म आंदोलन की प्रत्यक्ष देन रहा है या फिर उससे गहरे प्रभावित रहा है।

ऋत्विक घटक इस आभिजात्य संगठन के सदस्य कभी नहीं रहे, लेकिन इसके कुछ सदस्यों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध थे। जहां तक मृणाल सेन का संबंध है वे फिल्म कलावों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था के अध्यक्ष रहे, जो बड़ी ही महत्वपूर्ण पद माना जाता है और फ्रांकुआ ब्रूफो सहित फिल्म जगत के कई स्मरणीय लोगों ने इसे सुशोभित किया था।

समंकालीन मलयालम सिनेमा फिल्म सोसायटी आंदोलन का विशेष ऋणी रहा है। मलयालम सिनेमा भारतीय क्षेत्रीय फिल्मों में आज सबसे आगे है। इसका कारण यह है कि इसके युवा फिल्म निर्माताओं ने केरल के ऐसे क्षेत्रों में फिल्म कलब आंदोलन का संचालन किया जहां इस तरह की गतिविधियों की अधिक उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी। अदूर गोपाल कृष्णन, स्व. जी. अरविन्दन और स्व. जॉन अब्राहम इन तीनों की मलयालम सिनेमा का अवतार कहा जाता है, ये सभी आठवें दशक में तिरुअनंतपुरम और राज्य के अन्य शहरों और यहां तक कि गांवों में भी फिल्म आंदोलन से सम्बद्ध रहे। राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित अदूर की पहली फिल्म स्वयंवरम् का निर्माण प्रथम फिल्म कलब में

हुआ था, जिसकी स्थापना अदूर और उसके साथियों ने तिरुअनन्तपुरम में की थी। उनके फिल्म कलब की परिणति बाद में फिल्म सहकारी समिति के रूप में हुई और इसी समिति ने “स्वयंवरम्” फिल्म के लिए धन जुटाया। इस फिल्म को आधुनिक सर्जनात्मक फिल्म जगत के साथ-साथ मलयालम सिनेमा का पुनर्जन्म कहा जाता है।

किन्तु केरल में सबसे महत्वपूर्ण कलब की स्थापना जॉन अब्राहम ने की, जो बड़े ही विचारशील रचनाकार थे। आइजेनस्टीन की फिल्म “बैटलशिप पोटेमकिन” की याद में इस कलब का नाम ओडेसा रखा गया और कई दृष्टियों से फिल्मों को बढ़ावा देने का यह एक अनोखा कदम सिंद्ध हुआ। अपने संस्थापक के बुनियादी सिद्धांतों पर चलते हुए ओडेसा उत्कृष्ट पुरानी फिल्मों के प्रदर्शन की व्यवस्था करता है। गांवों और कस्बों में भी ऐसी फिल्में दिखाई जाती हैं। इस दृष्टि से प्रश्निम बंगाल के फिल्म कलब आंदोलन से केरल का यह प्रयास कुछ अलग तरह का है। कलकत्ता महानगर और छोटे-बड़े शहरों में ये फिल्में दिखाई जाती हैं, लेकिन केरल में गांवों और कस्बों में भी इनके प्रदर्शन की व्यवस्था है। प्रश्निम बंगाल का उदाहरण देना जरूरी है क्योंकि वहां आज भी फिल्म कलब आंदोलन सर्वाधिक गुंजायमान है, हालांकि हाल के समय में सदस्यों में आई कमी, अहम् की भावना को लेकर नेतृत्व के झगड़े और फिल्मों को सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोपीय देशों के दूतावासों से प्राप्त करने में कल्बों की अक्षमता के कारण आंदोलन को क्षति पहुंची। कभी समय था जब ये दूतावास फिल्मों को बढ़ावा देने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत होते थे।

फिल्म सोसायटी आंदोलन का विश्व भर में पतन हो रहा है और भारत इसका अपवाद नहीं है। वित्तीय और अन्य कठिनाइयों के कारण फिल्म निर्माण का स्थान वीडियो फिल्में लेती जा रही और फिल्म सोसायटी आंदोलन अचानक ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि हर वर्ष उसके द्वारा निर्मित फिल्मों की संख्या कम होती जा रही है। अगर दशकों से नहीं तो वर्षों से जो कलब जोरदार काम कर रहे हैं वे रातों-रात समाप्त होते जा रहे हैं और उनका

नामोनिशान मिट रहा है। फिल्म सोसायटी की सदस्यता, विशेषकर उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों में तेजी से घट रही है। लम्बे समय से आंदोलन का संचालन करने वाले विजय मूले या बासु भट्टाचार्य जैसे विशिष्ट निर्देशक इस बात को प्रमाणित करते हैं। अन्य महत्वपूर्ण घटक यह है कि दर्शकों और श्रीमतीओं की रुचि घटिया होती जा रही है। सैक्स और हिंसा प्रदर्शित करने वाली फिल्मों को अधिक पसन्द किया

रा जनीतिक स्वतंत्रता दिलाने में देश का नेतृत्व करने वालों में कुछ लोग ऐसे थे, जिन्होंने कला और संस्कृति के प्रति लोगों में जागरूकता घैदा की। जवाहरलाल नेहरू ने इस काम में फिल्म मायम की क्षमता और महत्व को तत्काल पहचान लिया था। किन्तु श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस आंदोलन को सरकारी सहयोग देने में अधिक उदात्त दिखाई।

आधुनिक युग के फ्रांस अथवा पूर्वी यूरोपीय देशों के कुछ अत्यंत विशिष्ट निर्देशकों ने आंदोलन से बहुत कुछ भी ग्रहण किया। हमारे देश में विशेषकर राय के बाद प्रत्येक महत्वपूर्ण फिल्म निर्माता फिल्म आंदोलन की प्रत्यक्ष देन रहा है या फिर उससे गहरे प्रभावित रहा है।

जा रहा है। जिनमें ऐसी लम्प्ट जिंदगी का चित्रण होता है जिसका कला और जीवन से कोई सरोकार नहीं है। स्थिति इतनी खराब हो गई है कि केरल को छोड़कर दक्षिण में भी आंदोलन ठंडा हो गया है। बंगलौर, जिसे सत्यजित राय ने गंभीर फिल्मों को बढ़ावा देने वाला महत्वपूर्ण केन्द्र कहा था, आज गिरीश कासरवल्ली जैसे विशिष्ट निर्देशकों की फिल्मों का भी ध्यान नहीं रख रहा है।

प्रश्निम बंगाल में स्थिति कुछ भिन्न है। हालांकि आंदोलन के पीछे उत्तरी कलात्मक और बौद्धिक शक्ति नहीं है जितनी कि छठे और सातवें दशक में थी, लेकिन फिर भी इसे जारी रखने में अभी भी पर्याप्त लोगों का योगदान है। आंदोलन के नेता परिवर्तित स्थितियों के प्रति बड़े चिन्तित हैं किन्तु वे समझते हैं कि विचलित स्थितियों का अभी भी सामना किया जा सकता है और वे गंभीरता एवं प्रतिबद्धता की भावना से अपना काम कर रहे हैं। प्रश्निम बंगाल में 70 में से लगभग 40 फिल्म सोसायटियों ने कुछ समय पूर्व एक नये मंच का गठन किया ताकि सामूहिक रूप से सुधारात्मक उपाय किये जा सकें और

आंदोलन को एक नई शक्ति दी जा सके, जिसकी उसे परम आवश्यकता है। इस मंच को फिल्म और सम्बद्ध कलाओं संबंधी अध्ययन केन्द्र का नाम दिया गया है। संभव है यह केन्द्र पचास वर्ष पुराने आंदोलन की उपलब्धियों को ठोस रूप प्रदान कर सकेगा और साथ ही वर्तमान तथा भविष्य के लिए कार्रवाई योजना तैयार करेगा।

कुछ समय पहले इस अध्ययन केन्द्र ने एक सम्मेलन का आयोजन किया था जिसमें फिल्म सोसायटी आंदोलन के निष्ठावान व्यक्तियों को सुनने का अविस्मरणीय मौका मिला था। जाने-माने फिल्म निर्माता प्रमोद लाहिड़ी, जो स्वयं फिल्म सोसायटी आंदोलन की उपज होने में गौरव अनुभव करते हैं, ने इस अवसर पर राज्य भर से आये लगभग दो सौ प्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए फिल्म निर्माण संबंधी अपने विविध अनुभवों से अवगत कराया। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि लाहिड़ी उस समय ऋत्विक घटक की “अजांत्रिक” अथवा सत्यजित राय की “परस पाथर” का निर्माण करने के लिए आगे आये थे, जबकि सिनेमा में सार्थक प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं थी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये दोनों फिल्में बंगाली सिनेमा की विकास यात्रा में मीलं का पथर सावित हुई और साथ ही देश भर में क्षेत्रीय फिल्मों पर इनका दूरगामी प्रभाव पड़ा। अन्य महत्वपूर्ण वक्ता थे फिल्म अभिनेता अनिल चटर्जी, जिन्होंने घटक, राय अथवा मृणःल सेन की अनेक फिल्मों में काम किया और कुछ ऐसी व्यावसायिक फिल्मों में भी अपने अभिनय की छाप छोड़ी जिनका निर्माण भली-भांति सामंजस्यपूर्ण ढंग से किया गया था। चटर्जी ने न केवल फिल्म अदाकार और तकनीशियन के रूप में बल्कि टोलीगंज के स्टूडियो में मजदूर संघ कार्यकर्ता के रूप में भी दीर्घावधि के अपने अनुभवों से भी अवगत कराया। फिल्म सोसायटी आंदोलन का इतिहास और विकास विषय पर सम्मेलन के सेम्ब्रान्टिक सेत्र के दौरान चटर्जी के अलावा फिल्म कलब संचालकों की प्रथम पीढ़ी का फिल्म प्रतिनिधित्व करने वाले चिदानन्द दासगुप्त और दूसरी पीढ़ी के प्रवक्ता प्रबोध मित्र ने भी अपने अनुभवों की जानकारी दी।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष जरूर निकाला जा सकता है कि फ़िल्म क्लबों के पास अगर रचनाशीलता और काम करने की इच्छाशक्ति हो तो वे अभी भी महान मूल्यों को पुनः हासिल करने का आशावासन दे सकते हैं। सम्मेलन में सिनेमा के सौंदर्य शास्त्र पर भी एक सत्र आयोजित किया गया। इसमें वक्ताओं ने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि भारतीय फ़िल्म निर्माताओं को अपनी फ़िल्मों अथवा कथित विकासशील देशों के समुदायों की फ़िल्मों के मूल्यांकन के लिए पश्चिमी विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित मानदंडों का इस्तेमाल करने की बजाय स्वयं के सौंदर्यशास्त्र का

समकालीन भलयालम सिनेमा फ़िल्म सोसायटी आंदोलन का विशेष झण्डी रहा है। भलयालम सिनेमा भारतीय क्षेत्रीय फ़िल्मों में आज सबसे आगे है। इसका कारण यह है कि इसके युवां फ़िल्म निर्माताओं ने केरल के ऐसे क्षेत्रों में फ़िल्म क्लब आंदोलन का संचालन किया, जहां इस तरह की गतिविधियों की अधिक उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी।

विकास करना चाहिए। कई वक्ताओं ने इस मुद्दे पर जोर दिया कि अगर लेटिन अमरीका अपनी कलात्मक और रचनात्मक प्रतिभा व्यक्त करने के लिए साहित्य अथवा फ़िल्मों में अपने विशिष्ट सौंदर्यशास्त्र का इस्तेमाल कर सकता है तो कोई कारण नहीं है कि बंगाली या मराठी या मलयाली फ़िल्मों का अपना सौंदर्यशास्त्र न हो। इसके बाद सिनेमा की सामाजिक शक्ति पर एक सत्र का आयोजन किया गया। समझा जाता है कि इसमें प्रतिनिधियों ने अधिक रुचि ली क्योंकि यह विषय अधिक व्यावहारिक है और सौंदर्यशास्त्र से काफी भिन्न है, जिसे आमतौर पर दुरुह अथवा आभिजात्य या दोनों ही माना जाता है (और यहां तक कि फ़िल्म क्लब के पुराने सदस्य भी ऐसा मानते हैं)।

किन्तु फ़िल्म निर्माण के विभिन्न तकनीकी पहलुओं से सम्बद्ध सम्मेलन का अंतिम सत्र सर्वाधिक दिलचस्प और मनोरंजक रहा। फ़िल्म निर्देशन के बारे में बोलते हुए उत्पलेन्दु चक्रवर्ती (मुकित चाई, मयना तदन्त, चोख, देवशिशु, सत्यजित राय का संगीत) ने उन

संकटों की चर्चा की जिनका सामना करने के लिए उस फ़िल्म निर्माता को तैयार रहना होता है जो “जीवन और कला के बारे में एक विशिष्ट दृष्टिकोण, और एक विशिष्ट संवेदनशीलता के साथ अलग तरह की फ़िल्मों का निर्माण” करना चाहता है। अपने खुद के अनुभवों के बारे में उन्होंने कहा कि अनेक उलझने आयीं और समझौते की गुणाइश हमेशा रही। रामानन्द सेनगुप्त, जिन्होंने जाने-माने फ़िल्म निर्माता ज्यां रेनॉइर के साथ “द रीवर” फ़िल्म के निर्माण में काम किया था और आधी शताब्दी के अपने व्यावसायिक जीवन काल में लगभग सभी महत्वपूर्ण बंगाली फ़िल्म निर्माताओं की व्यावहारिक सहायता की थी, उन्होंने सिनेमाटोग्राफी (चलचित्र कला) पर अपने विचार व्यक्त किये, जबकि एक अन्य वॉरिअट फ़िल्मी हस्ती सत्येन चटर्जी ने ध्वनि के बारे में विचार व्यक्त किये। कुल मिलाकर जो कहा गया और सुना गया, उससे सम्मेलन के आयोजकों और हिस्सा लेने वाले प्रतिनिधियों में इस नई आशा को बल मिला है कि फ़िल्म सोसायटी आंदोलन को समाप्त होने से अभी भी बचाया जा सकता है और युवा पीढ़ी को टेलीविजन के प्रलोभन से बचाने की दिशा में कम से कम कुछ उपाय तो किये जा सकते हैं।

भारत में फ़िल्म सोसायटी आंदोलन की कोई चर्चा तब तक पूरी नहीं कही जा सकती जब तक देश के सबसे बड़े फ़िल्म क्लब-सिने सेंट्रल की गतिविधियों और उसके पूरे साल चलने वाले कार्यक्रमों का उल्लेख न किया जाए। इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम कलकत्ता अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह है जो हर साल नवम्बर के पूरे महीने चलता है। इस समारोह के कार्यक्रम और विषय वस्तु का अनुमान पिछले वर्ष आयोजित नौवें कलकत्ता अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह के कार्यक्रमों से लगाया जा सकता है। इसमें ज्यां रेनॉइर इंगमार बर्गमान, और हृषिकेश मुखर्जी को श्रद्धांजलि के साथ-साथ स्लोवाक गणराज्य के स्तीफेन उहरे, लिंडसे एंडरसन और जोल्टान फाबरी की सृति में फ़िल्में दिखाई गयी। “ए मेमोरी आफ द वर्ल्ड” खंड के अंतर्गत जो

चौदह श्रेष्ठ पुरानी फ़िल्में दिखायी गयीं उनमें “इनटालरेंस” और बैटलशिन पोटेमकिन से लेकर हिरोशिमा मोन अमीर और एट एंड हाफ जैसी उल्कृष्ट फ़िल्में शामिल थीं। पुनरावलोकन खंड में स्वीडन के दो फ़िल्मकारों मारिट्ज स्टिल्लर और विक्टर स्जोस्ट्रीम तथा मिकलोस, जानस्को, एरिकोहमर और ऐलेन ट्यर की फ़िल्में प्रदर्शित की गयीं। इसके अलावा अर्जेन्टीना, कनाडा, चीन, कोलंबिया, फ्रांस, ग्रीस, जापान, मैकिस्को, स्पेन और यूग्मोस्लाविया की फ़िल्मों को “झांकी खंड” के अंतर्गत प्रदर्शित किया गया। फोकस आन कैटेलान सिनेमा और पैनोरमा आफ द वर्ल्ड खंड के अंतर्गत भी अनेक फ़िल्में दिखायी गयीं। डाक्यूमेंट्री खंड में डाक्यूमेंट्री फ़िल्में, शार्ट

फिल्म सोसायटी आंदोलन का विश्व भर में पतन हो रहा है और भारत इसका अपवाद नहीं है। वित्तीय और अन्य कटिनाइयों के कारण फ़िल्म निर्माण का स्थान बीड़ीयों फ़िल्में लेती जा रही हैं और फ़िल्म सोसायटी आंदोलन अवानक ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि हर वर्ष उसके द्वारा निर्मित फ़िल्मों की संख्या कम होती जा रही है।

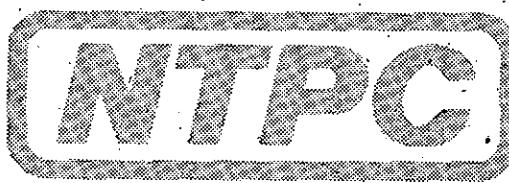
फ़िल्में, प्रायोगिक फ़िल्में, एनीमेशन फ़िल्में, और विभिन्न विधाओं को समन्वित करने वाली फ़िल्में प्रदर्शित की गयी। सिने सेंट्रल का विगत 25 वर्षों का इतिहास फ़िल्म सोसायटी आंदोलन को लाखों लोगों तक पहुंचाने में सफलता की कथा कहता है। फ़िल्म समारोह निदेशालय द्वारा भारतीय अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह के आयोजन पर खर्च की जाने वाली राशि, के सिर्फ दसवें हिस्से में कलकत्ता अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह आयोजित करके सिने सेंट्रल ने अपनी सफलता सिद्ध कर दी है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत में फ़िल्म सोसायटी आंदोलन अभी पूरा नहीं हुआ है। इसे अभी बहुत कुछ करना बाकी है। आने वाले समय में भारत में इस आंदोलन का भविष्य तय करने का अधिकार ऐसे लोगों के हाथों में होगा जिनमें असंभव को सभव बनाने की क्षमता है। ऐसे अनेक लोग काफी संख्या में हमारे बीच मौजूद हैं। ■

PRESENTING ANOTHER VIEW OF A FAMILIAR NAME



Reinforcing the commitment built over 20 years

Since inception in 1975, NTPC has generated more than just power and profits. It has contributed to improving the quality of life of millions. Today, the name that people across India have



नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन

become familiar with, gets a new dimension. Because it reflects their aspirations. NTPC's logo now reflects the pride of its Indian roots. And its commitment to national growth.



**National Thermal Power
Corporation Ltd.**
(A Govt. of India Enterprise)

Beyond the power and the profit

छोटे पर्दे पर सिनेमा

◆विवेकानन्द राय◆

भारतीय समाज, विशेषकर बुजुर्ग पीढ़ी चिंतित है कि छोटे पर्दे पर, खासतौर से उपग्रह के माध्यम से, आज बहुत सी फिल्में उपलब्ध हैं, और वास्तव में इनमें कुछ ही देखने योग्य होती हैं। यदि इन टेलीफिल्मों के निर्माता माध्यम की विशिष्टता को बनाये रख सकें तभी वे वास्तविक मनोरंजन उपलब्ध करा सकते हैं, ऐसा लेखक का मानना है।

दूरदर्शन की शुरुआत काफी पहले 1959 में दिल्ली में प्रायोगिक तौर पर की गई थी। छोटे पर्दे पर सिनेमा बाद में आया। शुरू में दिल्ली में दिखाये जाने वाले दूरदर्शन के कार्यक्रम शिक्षाप्रद होते थे और कुछ ही सामुदायिक सेट्स पर उपलब्ध थे, बाद में यह कार्यक्रम दिल्ली के आस-पास की ग्रामीण जनता तक भी पहुंचने लगे। इनका प्रसारण शाम के समय कुछ ही घण्टों के लिये होता था। लेकिन फिर दिल्ली में 1982 में आयोजित एशियाई खेलों के दौरान दूरदर्शन के कार्यक्रमों को जबरदस्त विस्तार मिला।

सरकार के एक महत्वपूर्ण निर्णय के कारण 1982-83 में रंगीन टी.वी. सेट्स का प्रचलन काफी बढ़ा और उसने धीरे-धीरे श्वेत श्याम (ब्लैक एण्ड व्हाइट) टी.वी. और उसकी तकनीक की जगह ले ली। अस्सी के दशक के मध्य तक जापान और सुदूरवर्ती पूर्वी देशों से उदार आयात नीति के कारण रंगीन टेलीविजन, वीडियो सेट्स (वी.सी.आर और वी.सी.पी.) ने देश के बड़े शहरों पर लगभग अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। दशक के अंतिम वर्षों तक ग्रामीण विद्युतीकरण के विस्तार के कारण टी.वी. सेट्स ग्रामीण इलाकों में भी फैल गये थे। यहां तक कि जिन स्थानों पर बिजली नहीं पहुंची थी, वहां सक्षम मध्यमवर्गीय लोगों ने बैटरी से चलने वाले सैट लगा लिए थे। घरेलू कंपनियों द्वारा बड़े पैमाने पर पोर्टेबल टी.वी. सेटों के उत्पादन ने इस क्रांति को एक कदम और आगे बढ़ा दिया।

नब्बे के दशक के आरंभ में दूरदर्शन के नेटवर्क और प्रसारण में काफी विस्तार हुआ।

उच्च शक्ति और कम शक्ति के ट्रांसमीटरों और बूस्टर टावरों की बड़े पैमाने पर स्थापना के बाद उपग्रह टी.वी. ने नब्बे के दशक के आरंभ में भारत में प्रवेश किया। डिश एटिना का उदारतापूर्वक आयात किया गया और बाद में यह भारत में ही बनने लगे जिससे इनकी कीमत और भी कम हो गई। साथ ही साथ वीडियो, पार्लस और पुस्तकालय सुदूरवर्ती इलाकों तक फैल गए। इससे फिल्मों के प्रचार-प्रसार और प्रदर्शन को बढ़ावा मिला और अब सिनेमा उन साधन संपन्न लोगों के घरों तक पहुंच गया जो रंगीन टी.वी. और वीडियो डैक्स रखने की क्षमता रखते थे। केबल टी.वी. ने इस दृश्य-श्रव्य माध्यम के बड़े शहरों में तेजी से हो रहे विस्तार को एक और नया आयाम दिया। मात्र सौ रुपये के आस-पास खर्च करने से घरेलू टी.वी. सेटों पर दूरदर्शन के दो चैनलों के स्थान पर लगभग आधा दर्जन चैनल उपलब्ध होने लगे, प्रसारण की अवधि भी बढ़ गई।

केन्द्र सरकार द्वारा जुलाई 1991 से शुरू किये गये आर्थिक सुधारों के साथ ही शुरू हुई इस क्रांति के दो शिकार हुए, ये थे सिनेमा हाल और रेडियो। पहला निजी क्षेत्र था तो दूसरा सरकारी। 1912 से अपनी यात्रा शुरू करने वाले सिनेमा और 1927 से यात्रा शुरू करने वाले रेडियो इस समय तक भारतीय उपभोग्यांश को एक कदम और आगे बढ़ा दिया।

के एक बड़े हिस्से पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुके थे।

छोटे पर्दे पर सीधे प्रसारण, केबल टी.वी. और वीडियो कैसेट्स के माध्यम से फिल्मों की प्रधानता हो गई। सिनेमा घरों पर खतरा मंडराने लगा और बंबई तथा मद्रास में व्यावसायिक दृष्टि से अनुपयुक्त कुछ पुराने और प्रतिष्ठित सिनेमा घरों में प्रवेश शुल्क काफी बढ़ गये और यह मात्र संपन्न लोगों के वश की बात रह गई। अस्सी के दशक के मध्य में एक सुविधाजनक सिनेमा हाल में नई फिल्म देखने के लिये जहां दो से पांच रुपये खर्च करने पड़ते थे वहीं इनकी कीमतें बढ़कर 20 से 30 रुपये के बीच हो गई। केबल टी.वी. या वीडियो कैसेट्स के माध्यम से फिल्म देखना अपेक्षाकृत काफी सस्ता हो गया। 10 रुपये में एक दिन के लिये किराये पर लाई गई वीडियो कैसेट्स को समूचे परिवार, मित्रों और रिश्तेदारों के साथ देखा जा सकता था। इस तरह सिनेमा मध्यमवर्गीय परिवारों के लिये चावल-दाल और आलू की तरह जरूरत की चीज बन गया। वास्तव में शहरी इलाकों में यह रोजमर्रा की आवश्यकता बन गई और लोग पूरे परिवार के साथ देखने के लिए इसे बाजार से किराना और सभियों के साथ लाने लगे। पहले की पीढ़ी की आदतों में शामिल नजदीकी या कुछ दूर के सिनेमा घरों में लंबे इंतजार के बाद फिल्म देखने की लालेसा अब मनोरंजन की लगतार भूख में बदल गई जिसे तुरंत संतुष्ट किया जाने लगा। फिल्मों के प्रसार और वितरण में आये इस महत्वपूर्ण परिवर्तन

तथा फिल्मों और टी.वी. में आई क्रांति ने सिनेमा को भी प्रभावित किया।

स्पष्ट तौर पर यदि कहा जाये तो पहले भारत में फिल्में या तो अच्छी कही जा सकती थीं या बुरी। 1940 तक फीचर फिल्में कहानी की प्रधानता वाली होती थी। द्वितीय विश्व युद्ध 1939 से 1945 के दौरान इसमें बड़ा परिवर्तन आया। बंबई, मद्रास और कलकत्ता में फिल्म उद्योगों में निवेश अत्यानक बढ़ गया। जिन व्यापारियों और ठेकेदारों ने युद्ध में आपूर्ति से काफी पैसा कमाया था वे अपना पैसा फिल्म बनाने में लगाने लगे। इस परिवर्तन की पहली शिकार स्टूडियो प्रणाली बनी और धीरे-धीरे अभिनेता प्रधान प्रणाली फो जगह मिलने लगी। चालीस के दशक के आरंभ में कलाकार और कर्मचारी होते थे। इनमें बाबे टाकीज़, कलकत्ता का चूंच थियेटर, सालेम (तमिलनाडु) का माडर्न थियेटर और कोलहापुर की प्रभात फिल्म कंपनी बंशहूर है। वेतन सुविधा प्राप्त ये कर्मचारी इन पांच फिल्म बनाने वाले शहरों के अलावा मद्रास तथा लाहौर के किसी भी अन्य निर्माता के लिये काम नहीं कर सकते थे। हालांकि इन शहरों के नव धनाद्य निर्माता इन कर्मचारियों को अपने नियोजकों की कंपनी से बाहर निकालने के लिये इतना प्रस्ताव करते थे जो उनके निश्चित वेतन से कई गुना ज्यादा होता था। यह प्रस्ताव पहले कलाकारों को, फिर तकनीशियनों को और उसके बाद उन सभी लोगों को दिये जाने लगे जो कैमरे के पीछे काम करते थे। इन फीचर फिल्मों में मनोरंजन ही प्रमुख आकर्षण होने लगा। इससे पहले जो फिल्में दर्शकों को भावनुत्पन्न करने वाली थीं, उन्हीं ही लोकप्रिय होती थीं। मित्र देशों की सेनाओं के भारत से गुजरने या शहरों में नियुक्ति ने भी ऐसी फिल्मों को बढ़ावा दिया जो गंभीर और भावप्रधान न होकर हास्य और संगीत की प्रधानता वाली होती थीं। फैक्ट्रियों और मिलों में काम के लिये गांव छोड़ने से शहरों और कस्बों में ऐसे उन्मादी लोगों की संख्या बढ़ती गई, जो सस्ते सनसनीखेज मनोरंजन की चाह करने लगे।

होशियार निर्माता और निर्देशकों ने इन

सांस्कृतिक परिवर्तनों को देखते हुए स्थिति का फायदा उठाया, और हॉलीवुड फिल्मों की तर्ज पर हास्य, संगीत और एक्शन प्रधान फिल्में सामाजिक फिल्मों के साथ-साथ बड़ी संख्या में बनने लगीं। बंबई में 1931 में जमशेद और होमी वाडिया ने ‘दिलेर डाकू’ के साथ

उच्च शक्ति और कम शक्ति के द्वांसमीटों और बूस्टर टारों की बड़े पैमाने पर स्थापना के बाद उपग्रह टी.वी. ने नब्बे के दशक के आरंभ में भारत में प्रवेश किया। डिश एटिना का उदारतापूर्वक आयात किया गया और बाद में यह भारत में ही बनने लगे जिससे इनकी कीमत और भी कम हो गई। साथ ही साथ वीडियो पार्टर्स और लाइब्रेरियों सुदूरवर्ती इलाकों तक फैल गई, इससे फिल्मों के प्रचार-प्रसार और प्रदर्शन को बढ़ावा मिला और अब सिनेमा उन साधन संपन्न लोगों के घरों तक पहुंच गया जो रंगीन टी.वी. और वीडियो डेक खरने की क्षमता रखते थे। केबल टी.वी. ने इस दृश्य-ब्रह्म माध्यम के बड़े शहरों में तेजी से हो रहे विस्तार को एक और नया आयाम दिया।

मारधाड़ वाली फिल्मों की शुरुआत की। इसमें यशवंत जोरदार भूमिका में थे। मराठी सिनेमा में तो मारधाड़ वाली फिल्में मूक फिल्मों के दौर में ही उस समय लोकप्रिय हो गई जब मास्टर विट्ठल ने हॉलीवुड के उगलस फेयरवैक्स का अनुकरण करने की कोशिश की। वाडिया मूवीटोन्स की फिल्म शृंखला में भयमुक्त और साहसी नारियों को दिखाया जाने लगा। हंटरवाली (1934) उस दशक की आकर्षक फिल्मों में से एक थी। यह सिलसिला (1954) हातिमताई तक भी जारी रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान और बाद में खासकर 1945 के पश्चात जब युद्ध का समय बीत चुका था, एक्शन, मारधाड़, चामत्कारिक, कल्पना आधारित, रहस्यपूर्ण और यहां तक कि खौफनाक फिल्मों (रामसे ब्रदस) ने गति पकड़ ली थी। इससे शहरों और औद्योगिक इलाकों में उन्मादी लोगों की संख्या में और बढ़ि हुई। दिखावट और हिंसा से भरपूर फिल्म ‘शोले’ इस रुझान की कोई अतिशयोक्ति नहीं थी।

अस्सी के दशक के आरम्भ और मध्य में जब दूरदर्शन का विस्तार शुरू हुआ तो उसे परिवारों में विभिन्न उम्र और रुचि के दर्शकों के लिये अपने बड़े हुये प्रसारण के समय को

देखते हुए कार्यकर्मों की जरूरत हुई। छोटे आकार के ब्लैक एण्ड व्हाइट (श्वेत-श्याम) टी.वी. सेट निम्न-मध्यम वर्गीय परिवार भी आसानी से खरीदने लगे। दूरदर्शन के गंभीर और संभ्रात चरित्र के कार्यकर्मों पर असर पड़ने लगा। बड़े पैमाने पर कार्यक्रम तैयार करने के लिए स्टूडियो, कैमरा इकाइयां और अन्य आधारभूत सुविधाएं औवश्यक हो गई, जिन्हें तुरन्त तैयार कर पाना संभव नहीं था। प्रशिक्षित तकनीशियन और कलाकार भी तत्काल उपलब्ध नहीं थे। ऐसी स्थिति में सिनेमा ने दूरदर्शन का बचाव किया और उसके प्रदर्शन की साख को बैशाखियों का सहारा दिया। नब्बे के दशक के आरंभ में उपग्रह टी.वी. ने प्रवेश किया तथा कामुकता और वासना की स्वीकारोक्ति के रहस्यों की शृंखलाओं से भरी विदेशी फिल्में लोगों को ज्यादा आकर्षित करने लगीं।

दूरदर्शन ने शुरुआत व्यावसायिक हिन्दी फिल्मों से की। पहले सप्ताह में दो या तीन फिल्में दिखाई जाती थीं, धीरे-धीरे उसने बड़े शहरों के लोगों के लिये क्षेत्रीय फिल्में भी दिखानी शुरू कर दी। फीचर फिल्मों के साथ-साथ इन फिल्मों के गाने और नृत्य भी लोकप्रिय होने लगे। शुरू में इस तरह के दो कार्यक्रम पूरे देश में अत्यधिक लोकप्रिय हुए। पहला चित्रहार, जिसमें हिन्दी फिल्मों के गानों की शृंखला होती थी और दूसरा चित्रमाला जिसमें क्षेत्रीय फिल्मों के गानों का संकलन होता था, चित्रहार, चित्रमाला के मुकाबले ज्याका लोकप्रिय था। रविवार की सुबह के प्रसारण में नई और पुरानी फिल्मों के इसी तरह के दृश्यों वाले ‘रंगोली’ कार्यक्रम की शुरुआत की गई। प्रस्तुतकर्ताओं की मनमोहक शैली और आकर्षक पुरस्कारों ने इस कार्यक्रम को अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया।

दूरदर्शन और उपग्रह टी.वी. के जरिये कई प्रकार की फिल्म प्रश्नोत्तरी शुरू की गई और इस तरह सिनेमा पूरे देश में लीकप्रियता का केन्द्र बन गया। हालांकि इन टी.वी. सेटों का सबसे बड़ा पर्दा भी सिनेमा घरों के पर्दे के लगभग दसवें हिस्से के बराबर था और इसमें लंबे शाद्दे और चित्रों की लंबी कतार वाले

दृश्य भी सही ढंग से दिखाई नहीं देते थे।

लेकिन क्या सिनेमा को टी. वी. के इस अनियंत्रित विस्तार से नुकसान पहुंचा है? पश्चिमी देशों में टी. वी. सेटों को अमूमन “बुद्ध बक्सा” (इडियट बाक्स) कहा जाता है। इस प्रचलित नाम की शुरुआत अमरीका में साठ के दशक के मध्य में उस समय हुई जब रंगीन टी. वी. का आरंभ भी नहीं हुआ था, लेकिन ब्लैक एण्ड व्हाइट टी. वी. सेट सर्वत्र व्याप्त थे। रंगीन टेलीविजन सेटों में हालांकि सिर्फ रंग का अंतर था फिर भी इसके आविष्कार से मनुष्य और प्राकृतिक घटाओं के दृश्य ज्यादा वास्तविक और जीवंत लगने लगे थे। उपग्रह के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय प्रसारण और दृश्य-श्रव्य साधनों में नई तकनीक ने छोटे पर्दे पर एक नई क्रांति पैदा कर दी। उदाहरण के तौर पर शुरू में विदेशी फिल्मों के दर्शक कम होते थे। ग्रामीण इन्हें आमतौर पर देखते नहीं थे और शिक्षित मध्यम वर्गीय परिवारों में भी इनके दर्शकों की संख्या कम ही थी। कारण यह था कि दर्शकों की सीमाजिक संस्कृति से जुड़ी फिल्में ही उन्हें ज्यादा भारी थीं। फिल्मों में आवाज की शुरुआत 1929 में पश्चिमी देशों में और 1931 में भारत में ‘आलम आरा’ से हुई जिसने सिनेमा को आंचलिकता प्रदान की और जैसाकि सत्यजित राय ने कहा भी था, “इससे इसकी विश्व व्यापकता खत्म हो गई।” चार्लि

टी. वी. का दर्शक फिल्म के बाद धारावाहिक,

समाचार, नृत्य और दूसरे चैनल पर फिर फिल्म देखता है। टी. वी. से मस्तिष्क को एकाग्रता दे पाना संभव नहीं होता और शायद इसी तरह यह अपने परिचित नाम “बुद्ध बक्सा” को चरितार्थ करता है। उड़िया फिल्मों के जाने-माने निर्माता श्री मनमोहन महापात्रा ने एक बार कहा था, “टी. वी. पर फिल्मों की पहचान खो गई है।”

चैपलिन ने भी तकनीकों के विकास का स्वागत नहीं किया था। केबल और उपग्रह टी. वी. के कार्यक्रम यहां तक कि अर्द्धशहरी इलाकों में भी पहुंच गये थे। विदेशी फिल्में अब निम्न-मध्यम वर्गीय लोगों तक पहुंचने लगी थीं, और चाहते हुए या न चाहते हुये ये फिल्में बहुत से लोगों द्वारा देखी जाने लगीं। भारत

में आर्थिक सुधारों से कुछ वर्ग ज्यादा संपन्न और अधिक सुविधाओं के आदी बन गये।

उपग्रह टी. वी. के आत्मसात से भारत में संपन्नों की संख्या बढ़ रही है। पश्चिमी सभ्यता के हास की भले ही शुरुआत हो चुकी हो, इसका आज भी शेष विश्व पर प्रभुत्व कायम है, विशेषकर भारत जैसे उसके पूर्व आधिपत्य वाले देशों में जो लगभग उसके अधीन रह चुके हों। इन देशों में पश्चिमी संस्कृति में हो रहे अद्यतन परिवर्तन या विकास की नकल कर उन्हें बहुत जल्दी अपना लिया जाता है। इसलिये जाहिर तौर पर उपग्रह टी. वी. के माध्यम से पश्चिमी फिल्मों को पहले के मुकाबले अब ज्यादा स्वीकार किया जाने लगा। कई बार तो इन फिल्मों को देखना और सामाजिक गोष्ठियों में इनकी चर्चा करना सम्मान और प्रतिष्ठा की बात समझी जाती है। दूरदर्शन द्वारा जी और दूसरे विदेशी चैनलों के मुकाबले के लिये हाल ही में फिल्मों पर आधारित विशेष चैनल “मूर्ती कलाव” की शुरुआत से तो छोटे पर्दे पर जैसे फिल्मों की बढ़ा-सी आ गई है।

टी. वी. पर फिल्मों की अधिकता क्या उसके वास्तविक विकास में सहायक है? बच्चे इन शहरों और कस्बों में जहां केबल और उपग्रह टी. वी. के प्रसारण उपलब्ध हैं एक सप्ताह में चार-पाँच और एक महीने में लगभग

टेलीफिल्म और धारावाहिकों को यदि इस

माध्यम की सीमाओं और विशेषताओं को देखते हुए बनाया जाये तो यह बहुधा सफल होते हैं। सत्यजीत राय ने “सदगति” (1982) में दूरदर्शन और “पिक्स” (1981) फ्रांसीसी टी. वी. के लिये बनाई थीं। “सत्यजीत राय प्रेसेंट्स” 1986 में दो भागों में धारावाहिक कहानियों के रूप में प्रस्तुत की गई जो दूरदर्शन के लिए एक शानदार टेलीफिल्म थी।

20 फिल्में देखते हैं। इतने ही समय में पुरानी पीढ़ी एक फिल्म देखकर संतुष्ट हो लेती थी। वास्तव में लेखक की किशोरावस्था में देखी गई अच्छी फिल्मों का वैचारिक मंथन काफी लंबे समय तक चलता रहा, और बचपन में देखी गई कई फिल्में आज भी स्मृतिपटल पर ज्यों

कि त्यौं अकित हैं। टी. वी. पर कितनी फिल्मों के साथ ऐसा हो सकता है, और जो उन्हें देखते हैं क्या उसकी कहानी की पंक्तियां याद रख पाते हैं? यह दिखाई जाने वाली उन फिल्मों का दोष नहीं है, यह उनकी स्थित आवृत्ति का ही परिणाम है। यदि “पाथर पांचाली” के बाद टी. वी. पर “शोले” दिखाई जाये तो उसका हथ भी वहीं होगा। टी. वी. प्रसारणों का अविवेकपूर्ण निर्धारण भी इसके लिये दोषी है। जब कोई टी. वी. देखता है तो उसकी देखने और सुनने की इन्द्रियां व्यस्त और कार्यरत होती हैं, सिनेमा में भी यही होता है। लेकिन फिल्म समाप्त होने के बाद कोई सिनेमाघर में नहीं रहता और उसे उस पर मंथन का समय मिल जाता है लेकिन वहीं टी. वी. का दर्शक फिल्म के बाद धारावाहिक, समाचार, नृत्य और दूसरे चैनल पर फिल्म देखता है। टी. वी. से मस्तिष्क को एकाग्रता दे पाना संभव नहीं होता और शायद इसी तरह यह अपने परिचित नाम “बुद्ध बक्से” को चरितार्थ करता है। उड़िया फिल्मों के जाने-माने निर्माता श्री मनमोहन महापात्रा ने एक बार कहा था, “टी. वी. पर फिल्मों की पहचान खो गई है। टेलीफिल्मों और धारावाहिकों के निर्माता इस तथ्य से भली-भाति परिचित हैं और इसीलिये वे क्षमता के बावजूद सत्यजीत राय की तरह फिल्में या धारावाहिक नहीं बनाते, बल्कि उद्देश्यहीन मनोरंजन की सामग्री जुटाने में व्यस्त रहते हैं।

बंबई और मद्रास में फार्मूला फिल्मों को बनाने और उसकी विकास करने वाले

उ पग्रह टी. वी. के आत्मसात से भारत में संपन्नों की संख्या बढ़ रही है। पश्चिमी सभ्यता के हास की भले ही शुरुआत हो चुकी हो, इसका आज भी शेष विश्व पर प्रभुत्व कायम है, विशेषकर भारत जैसे उसके पूर्व आधिपत्य वाले देशों में जो लगभग उसके अधीन रह चुके हों। इन देशों में पश्चिमी संस्कृति में हो रहे अद्यतन परिवर्तन या विकास की नकल कर उन्हें बहुत जल्दी अपना लिया जाता है। इसलिये जाहिर तौर पर उपग्रह टी. वी. के माध्यम से पश्चिमी फिल्मों को पहले के मुकाबले अब ज्यादा स्वीकार किया जाने लगा।

निर्माता अपनी कृति को यह बतलाते हुए सही ठहराते हैं कि लोग ऐसी फिल्में देखना पसंद करते हैं। वे लगातार इस तरह की फिल्में बनाये जा रहे हैं क्योंकि वे इससे बेहतर और कुछ बना नहीं सकते। दूसरा यह कि इस तरह की कोई फार्मूला फिल्म से अगर पर्याप्त पैसा मिल जाए तो दूसरा फिर उसी फार्मूले को दोहराता है। सफलता की आशा में यह दौर चलता रहता है और अप्रिय बनता जाता है। ऐसे निर्माताओं का आरोप है कि लीक से हटकर बनाई जाने वाली या कला फिल्में पैसा नहीं कमातीं, शायद बहुत से लोगों को यह मालूम न हो कि तथाकथित मुख्य धारा की हर चौथी या पांचवीं फिल्म बुरी तरह पिटती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शुरू हुई फार्मूला फिल्में अब भी जारी हैं क्योंकि इनके निर्माता फार्मूले से बाहर निकलकर कोई ऐसी फिल्में नहीं बना सकते जिस पर विचार अथवा चर्चा की जा सके। भले ही पूरी व्यावसायिकता के लिये नहीं लेकिन टी. वी. प्र दिखाई जाने वाली कुछ फिल्में अपराध प्रधानता के कारण एक व्यसन की ओर प्रेरित करने की शुरुआत कर रही है जिसमें क्रूर अत्याचारों और नृशंसता की बानगी दिखाई जाती है (कलकत्ता के एक लड़के की कहानी, जिसने एक पूरे परिवार की हत्या की, “आटो शंकर” इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं), लेकिन इस तरह की फिल्में लीक से हटकर फिल्म बनाने वाले उन निर्माताओं के लिये आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो सकती हैं, जिन्हें नुकसान उठाना पड़ता है। दूरदर्शन पर, फिल्म के पहले प्रदर्शन से निर्माता को कुछ लाख रुपये मिल जाते हैं और पुनर्प्रदर्शन से भी अच्छी आय हो जाती है। इतना ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि फिल्म को सिनेमाघरों में भी प्रदर्शित किया जा सकता है। इन दिनों एक पुरानी लोकप्रिय फिल्म को दूरदर्शन में विज्ञापनों के माध्यम से प्रदर्शित कराने के लिये दलाल को लगभग एक करोड़ रुपये मिलते हैं जिसमें से वह कुछ लाख निर्माता को देता है जो उस राशि से कहीं अधिक होती है जो सीधे उसे दूरदर्शन से मिलती है। एक नई

फिल्म को यदि पहली बार दूरदर्शन पर दिखाया जाता है तो उसकी लोकप्रियता प्रभावित होती है। लेकिन एक अच्छी फिल्म के राष्ट्रीय प्रसारण के बाद भी उसे बड़े पर्दे पर देखा जाता है। टेलीफिल्म और धारावाहिकों को यदि इस माध्यम की सीमाओं और विशेषताओं को देखते हुये बनाया जाये तो यह बहुधा सफल होती है। सत्यजित राय ने “सदगति” (1982) दूरदर्शन और “पिकूस” (1981) फ्रांसीसी टी.वी. के लिये बनाई थी। “सत्यजीत राय प्रेसेंट्स” 1986 में दो भागों में धारावाहिक कहानियों के रूप में प्रस्तुत की गई जो दूरदर्शन के लिए एक शानदार टेलीफिल्म थी। यदि टेलीफिल्मों के निःसत्ता माध्यम की विशिष्टता छोटे पर्दे पर सीधे प्रसारण, केवल टी.वी. और वीडियो कैसेट्स के माध्यम से फिल्मों की प्रधानता हो गई। सिनेमा घरों पर खतरा भंडराने लगा और बंबई तथा मद्रास में व्यावसायिक दृष्टि से अनुपयुक्त कुछ पुराने और प्रतिष्ठित सिनेमा घर बन्द होने लगे। सिनेमा घरों में प्रवेश शुल्क काफी बढ़ गये और यह मात्र संपन्न लोगों के वश की बात रह गई। अस्सी के दशक के मध्य में एक सुविधाजनक सिनेमा हाल में नई फिल्में देखने के लिये जहां दो से पांच रुपये खर्च करने पड़ते थे वहीं इनकी कीमतें बढ़कर 20 से 30 रुपये के बीच हो गई। इसके मुकाबले केवल टी.वी. या वीडियो कैसेट्स के माध्यम से फिल्म देखना अपेक्षाकृत काफी सस्ता हो गया। इस तरह सिनेमा मध्यम वर्गीय परिवारों के लिये चावल दाल और आलू की तरह जखरत की बीज बन गया।

को बनाये रख सकें तभी वे वास्तविक मनोरंजन उपलब्ध करा सकते हैं। भारतीय समाज विशेषकर बुजुर्ग पीढ़ी को इस बात की चिंता सता रही है कि छोटे पर्दे पर खासतौर पर उपग्रह के माध्यम से आज बहुत सी फिल्में दिखाई जा रही हैं और वास्तव में इनमें से कुछ ही देखने योग्य होती हैं। यह सिलसिला यदि इसी तरह जारी रहा तो वह दिन दूर नहीं जब भारतीय बच्चे पश्चिम की तरह टी.वी. सेटों के सामने कुंद होकर बैठे रहेंगे। बुजुर्गों का मानना है कि यदि पश्चिमी सभ्यता की

कामुकता और कहानी से भरी इन फिल्मों को अत्यधिक मात्रा में इसी तरह दिखाया गया तो युवा पीढ़ी के सामने नैतिकता का संकट उत्पन्न हो सकता है। पश्चिमी देशों के अर्थशास्त्री भारत में पर्याप्त आर्थिक क्षमताओं के उज्ज्वल भविष्य और आने वाली शताब्दी में उसके महाशक्ति बनने का पूर्वानुमान व्यक्त कर रहे हैं। हमारे देश ने अपने अंदर की सांस्कृतिक विभिन्नताओं को अपनाया है, इनमें विदेशी शासकों द्वारा लाई गई संस्कृति भी शामिल हैं, लेकिन यदि हम अब टी.वी. के माध्यम से आ रही संस्कृति को सही ढंग से आत्मसात नहीं कर पाये तो भारत फिर पश्चिमी संस्कृति के एक केन्द्र के रूप में बदल जायेगा और इसमें छोटे पर्दे पर दिखाई जाने वाली फिल्मों की निश्चित तौर पर बड़ी और दुर्भाग्यपूर्ण भूमिका होगी। ■

विश्व सिनेमा शताब्दी आयोजन

सरकार ने विश्व सिनेमा की शताब्दी के आयोजन के लिए एक राष्ट्रीय समिति गठित की है। यह समिति भारत में सिनेमा के शताब्दी संवर्धी समारोहों का आयोजन करेगी। इस 67 सदस्यीय समिति के अध्यक्ष सूचना और प्रसारण मंत्री श्री के. पी. सिंह देव होंगे तथा उपाध्यक्ष संस्कृति उपमंत्री कुमारी शैलजा होंगी।

महाराष्ट्र के संस्कृति भाषामतों के मंत्री, कर्नाटक के सूचना एवं पर्यटन मंत्री, पश्चिम बंगाल के सूचना एवं प्रचार मंत्री, केरल के संस्कृति एवं कृषि और आधुनिक प्रदेश के चलचित्र मंत्री भी इस राष्ट्रीय समिति के सदस्य होंगे। समिति की पहली बैठक शीघ्र होगी, जिसमें भारत में समारोह के स्वरूप के बारे में निर्णय लिया जाएगा। समिति में फिल्मोद्योग और प्रमुख फिल्मकारों का भी प्रतिनिधित्व होगा। इसके अलावा राज्य सरकारों के 15. प्रतिनिधि भी इसमें शामिल होंगे। फिल्म फेडरेशन आफ इंडिया के अध्यक्ष और दक्षिण भारतीय फिल्म चैम्बर आफ कामरस के अध्यक्ष समिति में फिल्मोद्योग संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। फिल्मों से जुड़े संसद सदस्यों में श्री सुनील दत्त, सुश्री वैजयंती माला, सर्वथी राजेश खन्ना, राज बब्बर, अरविंद त्रिवेदी और सुश्री दीपिका टोपीवाला इस समिति के सदस्य हैं। ■

लीक से हटकर सिनेमा

रत्नोत्तम सेनगुप्ता

जब हम लोग लीक से हटकर सिनेमा की चर्चा करते हैं तब इसका अर्थ उस विशेष प्रकार के सिनेमा से होता है जिसकी जड़ें शायद भारतीय सिनेमा की मानवतावादी और सामाजिक रूप से सार्थक रचना में हैं। यह मानवतावादी मूल्यों के निश्चयात्मक रुख के कारण प्रतिष्ठित है और इसमें सामाजिक विषयों की चिंता की गई है।

विश्व में सभी जगह सिनेमा और समाज

एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यद्यपि यह संबंध हमेशा दृष्टिकोण नहीं रहता। लाखों लोगों की कल्पनाशक्ति पर अपनी चुम्बकीय पकड़ के साथ तकनीक और सृजनात्मकता की यह उपज आज विश्व पर शासन करती है। कला के रूप में समाज के अंतःकरण का कार्य करते हुए यह मनोरंजन करती है। इसी तरह यह काफी क्षति भी पहुंचा सकती है। यही कारण है कि ब्रिटेन जैसा आधुनिक और तकनीकी रूप से विकसित समाज जब यह खबर सुनता है कि 'नेचुरल बार्न किलर' फिल्म ने फ्रांस में हिंसा करने की प्रेरणा दी है तो वह इसके रिलीज होने का बड़ा विरोध करता है, हालांकि इस फिल्म में उत्तनी हिंसा नहीं है जितनी अन्य फिल्मों में। तब यह खबर अफवाह भी हो सकती है; यह अति-प्रतिक्रिया भी हो सकती है, लेकिन कोई भी समाज ऐसा अवसर आने देना नहीं चाहेगा जब एक कम उम्र का बच्चा टेलीविजन पर देखे गए कार्यक्रम के तथाकथित प्रभाव में आकर अपने से भी कम उम्र के बच्चे की नृशंस हत्या कर दे।

यदि सिनेमा का अपने जन्मदाता देश में ही इतना अधिक प्रभाव है तो भारतीय समाज पर उसके प्रभाव के संबंध में आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में देश के महान नेता जवाहर लाल नेहरू ने "सिनेमा को विश्व को सबसे अधिक प्रभावित करने वालों में 'एक' बताया है।" उनके शब्दों में - "कई अन्य चीजें हैं जो मनुष्य को प्रभावित करती हैं - पुस्तकें, समाचार और अन्य कई।

लेकिन मैं सोचता हूं कि यह कहना विल्कुल सही होगा कि भारत में सिनेमा का प्रभाव समाचार और पुस्तकों के संयुक्त प्रभाव से अधिक है।" शायद पूरे उपमहाद्वीप में यह प्रभाव इतना मूर्त नहीं है जितना कि भारत के दक्षिणी राज्यों में। इन राज्यों में एक के बाद एक मुख्यमंत्री सिनेमा-दर्शकों में अपनी लोकप्रियता के शिखर पर सवार होकर सार्वजनिक मामलों के कर्णधार बन गये।

नेहरू ने जब टेलीविजन का उल्लेख किया था तब तक देश में इसका प्रवेश नहीं हुआ था। लेकिन वर्तमान संदर्भ में जब लगता है कि सिनेमा स्वयं 'इंडियेट बॉक्स' के प्रभाव में लड़खड़ा रहा है तब उनकी उमित सही प्रतीत होती है क्योंकि अधिक संख्या में दर्शकों को आकर्षित करने वाले टेलीविजन के कार्यक्रम आज भी सेलूलॉयड रचना पर आधारित हैं। यदि 'सुपरहिट मुकाबला' को लोकप्रियता में स्पर्धा करनी है तो यह 'फिलिप्स टॉप टेन' या 'बी.पी.एल. ओए' जैसे फिल्मी गीतों पर आधारित कार्यक्रमों के साथ स्पर्धा करता है। अब तक यह पूरी तरह स्थापित हो चुका है कि गीत उन फिल्मों का प्रतिदर्शन हैं जिनके लिए उनकी रचना की जाती है और गीतों का फिल्मों की सफलता में बहुत बड़ा योगदान होता है, इसलिए इसमें बहुत कम आश्चर्य है कि जब भी 'चोली के पीछे' या 'सरकालियों खटिया' जैसे गीतों से हमारे मूल्यों को खतरा अनुभव होता है तो हम लोग शोरगुल करते हैं।

ऑफबीट क्या है?

संक्षिप्त ऑफसफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार ऑफबीट का अर्थ ऐसा कुछ जो असाधारण, विलक्षण और गैर-परम्परागत हो। शायद केवल अंतिम शब्द ही सिनेमा के क्षेत्र में ऑफबीट के उपयोग के अर्थ के नजदीक है। इसका प्रयोग उन फिल्मों के वर्गीकरण के लिए किया जाता है जिनमें निश्चित सफलता के फार्मूलों या परंपराओं को सराहा नहीं जाता। हालांकि इन फार्मूलों और परंपराओं का सहारा लेकर हजारों फिल्में बनायी जाती हैं, जिसके कारण भारत को "विश्व का सबसे बड़ा फिल्म उत्पाद देश" की संदिधि प्रतिष्ठा मिली हुई है।

आज जब हम ऑफबीट सिनेमा यानि लीक से हटकर सिनेमा की बात करते हैं तो उसका अर्थ उस तरह की फिल्मों से है जिसकी जड़ें शायद 'हमराही', 'दो बीघा जमीन', 'पड़ोसी', 'आदमी', 'मदर्हिंडिया', 'आवारा', 'प्यासा', 'मुजाता' जैसी मानवतावादी और सामाजिक रूप से अर्थपूर्ण फिल्मों में हैं। इन फिल्मों में संप्रदायवाद, समाजवाद, जातीयता और महिलाओं के स्थान पर चिंता प्रकट की गयी थी, लेकिन इनमें से कोई भी लीक से हटकर फिल्म नहीं थी। ये सभी विद्यमान मुख्यधारा की फिल्में थीं। प्रत्येक फिल्म में एक सामाजिक विषय पर ध्यानाकर्षण कराया गया था जो देश में सब के लिए चिंता का विषय था। तब भारत शताब्दियों पुराने उपनिवेशवादी शासन, युगों से चली आ रही सामन्तवादी

व्यवस्था और दशकों पुरानी साप्रदायिकता के बाद स्वतंत्र हुआ था और एक प्रजातांत्रिक देश बना था। इनमें से प्रत्येक फ़िल्म का निर्माण निजी क्षेत्र में हुआ था।

इसी तरह, आंदोलन जिसे हम लोग लीक से हटकर सिनेमा कहते हैं, मानवतावादी मूल्यों की निर्णायक प्रवृत्ति के कारण लब्ध - प्रतिष्ठित है। उसने गरीबों और शोषितों की दुर्दशा के प्रति लगातार संवेदना प्रकट की। इन फ़िल्मों ने समाज या स्थापित मानदंडों में न भी सही, तो भी मुख्य में और विद्रोह करने तथा परिवर्तन लाने की उसकी क्षमता में बराबर विश्वास प्रकट किए। उन्होंने नव-यथार्थवादियों और उपन्यासों की अच्छी बातों से प्रेरणा ग्रहण की। फ़िल्मकार अपने विषयों का चयन करने और उन्हें मूर्त रूप देने में परंपराओं से बंधे नहीं रहे। इंद्रियगोचर कलात्मक ईमानदारी के साथ उन्होंने एक मानववादी महत्व प्रस्तुत किया। उसने भारत की एक ऐसी छवि प्रस्तुत की जो लोकप्रिय फ़िल्मों द्वारा प्रस्तुत छवि की तुलना में अधिक वास्तविक थी।

स्वस्थ विकास सुनिश्चित करना

यदि बंबई के एस. के. पाटिल की अध्यक्षता में गठित चलचित्र जांच समिति ने पांचवें दशक में विद्यमान परिस्थितियों का अध्ययन करने के बाद भारतीय सिनेमा के स्वस्थ विकास के लिए कुछ सिफारिशें नहीं की होतीं तो यह समानांतर आंदोलन संभव नहीं होता। वास्तव में यह विभाजन के बाद के वर्षों में विद्यमान परिस्थितियों का अध्ययन था इस समिति की दो सिफारिशों के आधार पर सरकार ने भावी फ़िल्म निर्माताओं को प्रशिक्षण देने के लिए एक संस्थान की स्थापना की। अपनी सर्जनात्मकता को दबाने और बाजार की मांग के साथ समझौता करने के लिए तैयार नहीं होने वाले निर्माताओं को धन उपलब्ध कराने के बास्ते एक संगठन की भी स्थापना की गई। पुणे स्थित फ़िल्म संस्थान और फ़िल्म वित्त निगम, दोनों को सीमा से बंधी मुख्यधारा की

फ़िल्मों सहित भारतीय सिनेमा के स्वरूप में परिवर्तन लाना था। 'फ़िल्म वित्त निगम' का नाम बाद में 'राष्ट्रीय फ़िल्म विकास निगम' कर दिया गया।

लेकिन इससे पहले कि हम आगे विचार करें यह जान लेना आवश्यक है कि सरकार को सिनेमा के "स्वस्थ विकास" के लिए क्यों हस्तक्षेप करना पड़ा और कदम उठाने पड़े क्योंकि छठे दशक में जब इन संस्थानों की स्थापना की गयी, तब तक भारतीय सिनेमा

वा स्व में देश के महान नेता जवाहर लाल नेहरू

ने "सिनेमा को विश्व के सबसे अधिक प्रभावित करने वाले माध्यमों में से "एक" बताया है। चौथा दशक भारतीय सिनेमा के लिए संकांति काल था जो तीसरे दशक में अपने पूरे यौवन पर था। जिस समय महात्मा गांधी पूरे राष्ट्र की आकांक्षाओं को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते थे, उस समय जो वातावरण बना उसने फ़िल्म निर्माताओं को कुछ आदर्शों के प्रति प्रेरित किया। शायद शहरी, शिक्षित वर्ग के दर्शक भी इन फ़िल्मों की गुणवत्ता के प्रति काफी जागरूक हो गए थे।

लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने से बाहरी दुनिया के साथ फ़िल्मी दुनिया भी अपनी ज़िंडों तक हिल गयी। युद्ध से कुछ लोग मालामाल हो गए और उन्होंने सिनेमा के माध्यम से चमक-दमक और सामाजिक मान्यता चाही। दूसरी ओर देश के विभाजन से फ़िल्म निर्माण के क्षेत्र में संकट उत्पन्न हो गया, विशेषकर पूर्वी क्षेत्र में, जैसे पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में, जहां उदूराष्ट्रीय भाषा घोषित की गयी। बंगाली फ़िल्मों (पुस्तकों पर भी) पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त, कृषि प्रधान समाज के औद्योगिकीकरण से महानगरों का अनियमित विकास हुआ, परिणामस्वरूप झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वालों की संख्या में वृद्धि हुई और वे अपनी तात्कालिक वास्तविकताओं से पलायन कर नव धनाड्य स्वप्न सौदागरों द्वारा बनाए गए बहुरंगी स्वप्न चित्रों में खो गये। वास्तविकता के सादृश्य होने के कारण सिनेमा की लोक कल्पना पर चुम्बकीय पकड़ है। लेकिन यह दुःख की बात है कि सिनेमा ने अपनी कल्पना की उड़ान में वास्तविकता को

कि बिमल राय, राजकपूर और गुरुदत्त ने भी अच्छी फ़िल्में बनायीं थीं।

संकांति काल

वास्तविकता यह है कि चौथा दशक भारतीय सिनेमा के लिए संकांति काल था। यह न्यू थियेटर, प्रभाव स्टूडियो और बांबे टॉकिज जैसे फ़िल्म निर्माण केन्द्रों के साथ तीसरे दशक में अपने पूरे यौवन पर थी। ये केन्द्र निर्देशन, सिनेकैमरा, सम्पादन और अभिनय में निपुण पेशेवर लोगों के लिए इकट्ठा होने के केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त जिस समय महात्मा गांधी पूरे राष्ट्र की आकांक्षाओं को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं उस समय जो वातावरण बना उसने फ़िल्म निर्माताओं को कुछ आदर्शों के प्रति प्रेरित किया। शायद शहरी, शिक्षित वर्ग के दर्शक भी इन फ़िल्मों की गुणवत्ता के प्रति काफी जागरूक हो गए थे।

लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने से बाहरी दुनिया के साथ फ़िल्मी दुनिया भी अपनी ज़िंडों तक हिल गयी। युद्ध से कुछ लोग मालामाल हो गए और उन्होंने सिनेमा के माध्यम से चमक-दमक और सामाजिक मान्यता चाही। दूसरी ओर देश के विभाजन से फ़िल्म निर्माण के क्षेत्र में संकट उत्पन्न हो गया, विशेषकर पूर्वी क्षेत्र में, जैसे पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में, जहां उदूराष्ट्रीय भाषा घोषित की गयी। बंगाली फ़िल्मों (पुस्तकों पर भी) पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त, कृषि प्रधान समाज के औद्योगिकीकरण से महानगरों का अनियमित विकास हुआ, परिणामस्वरूप झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वालों की संख्या में वृद्धि हुई और वे अपनी तात्कालिक वास्तविकताओं से पलायन कर नव धनाड्य स्वप्न सौदागरों द्वारा बनाए गए बहुरंगी स्वप्न चित्रों में खो गये। वास्तविकता के सादृश्य होने के कारण सिनेमा की लोक कल्पना पर चुम्बकीय पकड़ है। लेकिन यह दुःख की बात है कि सिनेमा ने अपनी कल्पना की उड़ान में वास्तविकता को

विमल राय



फिल्म 'दो वीधा जमीन' का एक दृश्य

पीछे छोड़ कर ही असाधारण सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों के अनुसार 1948 हमारी फिल्म संस्कृति में बदलाव का वर्ष है। इसी वर्ष 'चन्द्रलेखा' रिलीज हुई। मद्रास में बनी और एस.एस. वासन द्वारा निर्देशित इस फिल्म में भव्य दृश्यों की भरमार थी। यह स्वाभाविक था कि इसके निर्माण पर काफी पैसा खर्च हुआ। जब इसे अपार सफलता मिली तो कुछ ऐसे लोगों को फिल्म निर्माण में धन लगाने की प्रेरणा मिली जिनके पास फ़ालतू धन था। यद्यपि ऐसे लोगों के लिए फिल्म निर्माण यदि पूरी तरह सट्टेबाजी नहीं थी, तो भी वह व्यापार का एक अच्छा जरिया अवश्य था। उनके आगमन के साथ ही फिल्म निर्माण बजट तेजी से बढ़ने लगा। अशोक कुमार जैसे सितारों की मांग के कारण काले धन की बुराई का फिल्म निर्माण में बड़े पैमाने पर प्रवेश हुआ। 'किस्मत' की सफलता के बाद इसमें और वृद्धि हुई। कलाकार स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगे। तकनीशियों ने भी जल्द ही उनका अनुसरण किया। जिसके फलस्वरूप हितेषी स्टूडियो प्रणाली ढहने लगी। जब कोई सहारा देने वाला

विकास के संबंध में सरकार की चिंता न्यायसंगत लगती है। बिमल राय सिनेमा में सामाजिक समानता और नव-यथार्थवाद के प्रवक्ता थे, जिनकी अभिव्यक्ति 1944 में न्यू थियेटर की 'उदयर पाथेय' (बाद में हमराही के रूप में बनी) और 1953 में बनी 'दो बीघा जमीन' में हुई। यह बंबई में बनी उनकी अपनी पहली फिल्म थी। यद्यपि वे 'परिणिता' (1953), 'बिराज बहू' (1954) और 'देवदास' (1955) जैसी कलात्मक रूप से मान्य फिल्में बनाते रहे लेकिन जिस फिल्म ने बिमल राय प्रोडक्शन को बहुत अधिक आर्थिक लाभ दिलाया वह थी-'मधुमती' (1958)। इसमें प्रेम और पुनर्जन्म की मनोहर कहानी है, लेकिन यह किसी रूप में 'दो बीघा जमीन' के निर्माता से अपेक्षित एक सार्थक फिल्म नहीं थी। बिमल राय ने 'परिणिता' और 'बिराज बहू' अन्य निर्माताओं के लिए बनाई थी।

'सुजाता' ने बिमल राय की उच्च प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया और 'बन्दिनी' एक प्रशंसनीय अंतिम कृति सांचित हुई। परंतु इनमें से किसी भी फिल्म को बॉक्स ऑफिस पर मध्यमार्गी फिल्मों जैसी सफलता नहीं मिली। वित्त, सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए सहयोग का केवल एक किंतु महत्वपूर्ण पहलू था। ज्यों ही फिल्मों का निर्माण हो जाता था, राष्ट्रीय स्तर पर उनकी अच्छाइयों को मान्यता राष्ट्रपति पुरस्कारों द्वारा मिलती थी। जब सरकार ने फिल्म समरोह निदेशालय के माध्यम से फिल्मों की पूरे विश्व में प्रदर्शन की व्यवस्था की, तब उन्हें अतिरिक्त मान्यता मिली।

नहीं रहा तो सिनेमा को मुख्यतः अभिव्यक्ति की कला मानने वाले बहुत से प्रतिभावान व्यक्ति निस्सहाय हों गए।

दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों-

बिमल राय और राजकपूर की फिल्मोग्राफी पर गहराई से ध्यान देने पर भारतीय सिनेमा की जो दुर्दशा सामने आई उससे सिनेमा के स्वस्थ

वर्गसीमाओं को तोड़कर एक गरीब लेखक से प्यार करती है।

इसी तरह राजकपूर ने अपनी अंखों में और अधिक ऊंचे स्वर्णों को लेकर फिल्मों की शुरुआत की और वे अपने फिल्मी चरित्रों के माध्यम से वामपंथी स्वर में बातें करने लगे क्योंकि उनके पात्र समाज द्वारा प्रताड़ित थे। दूसरे शब्दों में उनके पात्र एक दयनीय चोर या एक न्याय की पुकार करने वाला। 'आवारा' से राजकपूर को ख्याति मिली और उनकी ख्याति देश की सीमाओं को लम्बकर विदेश में भी पहुंच गई। लेकिन स्वयं इस अभिनेता निर्माता ने आर. के. वैनर के तले बनी फिल्मों की विश्वसनीयता के साथ समझौता किया और वे अपनी अभिनेत्रियों के विवाह-योग्य आकर्षण पर आक्षित रहने लगे। उस समय तो पूर्ण काया-पलट हो गया जब 'धरम-करम' में दिखाया गया कि मनुष्य अपने 'जीन' के अलावा किसी अन्य चीज की उपज नहीं है। एक गायक का पुत्र उतना ही कुलीन है जितने अच्छे स्वर में वह गाता है, भले ही उसका पालन-पोषण एक गुड़ द्वारा हुआ हो और अपनी शिक्षा के बावजूद एक

एफ. एफ. सी. की स्थापना का भारतीय सिनेमा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। मृणाल सेन ने लीक से हटकर सिनेमा के निर्माताओं का नेतृत्व किया और 1969 में एफ.एफ.सी. ने खुद छह से अधिक राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किए।

बदमाश का बेटा बदमाश ही रहता है।

प्रमुख प्रभाव

एफ.एफ.सी. की स्थापना का भारतीय सिनेमा पर बड़ा अधिक प्रभाव पड़ा। था। लेकिन यह प्रभाव दशक के अंत में मालूम पड़ना शुरू हुआ। मृणाल सेन ने लीक से हटकर सिनेमा के निर्माताओं का नेतृत्व किया और सेन की 'भुवन शोम', बसु चटर्जी की

प्रमुख प्रभाव

भारतीय सिनेमा के दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों- बिमल राय और राजकपूर की फिल्मोग्राफी पर गहराई से ध्यान देने पर भारतीय सिनेमा की जो दुर्दशा सामने आई उससे सिनेमा के स्वस्थ

‘सारा आकाश’, कातिलाल राठौर की गुजराती में ‘मांकू’ और उड़िया में ‘अदिना मेघा’ तथा मणि कौल की ‘उसकी रोटी’ जैसी विविधावाली फिल्मों के लिए एफ. एफ. सी. को 1969 में छह से अधिक राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुए। अगले चार वर्षों तक “क्वालिटी” दर्शकों ने राजिंदर सिंह बेदी की ‘दस्तक’, बसु भट्टाचार्य की ‘अनुभव’, ‘आदूर गोपालकृष्णन’ की ‘स्वयंवरम्’, कुमार शास्त्री की ‘माया दर्पण’, एम. एस. सैथ्यू की ‘गरम हवा’, अवतार कौल की ‘27 डाउन’, मणि कौल की ‘दुविधा’ अत्यधिक घटक की ‘युक्ति ताको और गप्पो’ को बार-बार देखा। यह सही है कि इनमें से सभी फिल्मों को ‘मुदन शोम’ या ‘गरम हवा’, जैसी व्यावसायिक सफलता नहीं मिली लेकिन तब सबसे बड़े स्टूडियो या श्रेष्ठ बैनर की फिल्में भी लगातार सफलता का दावा नहीं कर सकती थीं। दूसरी ओर इन फिल्मों के सिनेमेटिक मानदंड और माध्यम में प्रयोग की प्रासंगिकता के बारे में आलोचकों की दो राय नहीं थीं। यद्यपि उन पर गूढ़ और असंयमी होने का आरोप लगाया गया था।

शायद इन फिल्मों ने ऐसा वातावरण तैयार किया जो स्वस्थ सिनेमा के विकास में सहायक था या उस समय नए सिनेमा आंदोलन के लिए वातावरण तैयार था। इन्हीं वर्षों के दौरान ‘संस्कार’ के साथ पट्टाभी रामा रेड़ी, ‘अंकुर’ के साथ श्याम बेनेगल, ‘कंचन सीता’ के साथ जी. अरुविंदन, ‘काइ’ के साथ गिरीश करनाड, ‘चोमना डूड़ी’ के साथ बी. वी. कारंथ, ‘चक्र’ के साथ रविन्द्र धर्मराज और ‘घटश्राद्ध’ के साथ गिरीश कासरवली जैसी प्रतिभाओं का उदय हुआ। यद्यपि इन फिल्मों का निर्माण निजी निर्माताओं द्वारा हुआ लेकिन वे लोकाचार के साथ ऐसी कलाकृतियां थीं जिनकी अभिव्यक्ति एफ. एफ. सी. की फिल्मों में पाई जाती है।

वास्तव में मैं यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि कन्नड़ सिनेमा को इस सहयोग के कारण ही भारतीय सिनेमा में महत्वपूर्ण

स्थान प्राप्त हुआ। इसने लड़खड़ाते बंगाली सिनेमा को युवा प्रतिभाओं की खोज करने में मदद की। इनमें बुद्धदेव दासगुप्ता, गौतम घोष, अपर्णा सेन और उत्पलेन्दू चक्रवर्ती शामिल हैं। उड़िया फिल्म बाजार को अब तक फार्मूला फिल्मों से संतोष करना पड़ता था और

मुक्त बाजार वातावरण में मुख्य चिंता अधिक
उसे अधिक लाभ कमाना है। क्या लीक से हटकर सिनेमा इस समझौते को झेल सकता है? और यदि यह झेल नहीं सकता तो क्या हमें इस सम्पूर्ण आंदोलन का दम घोटने देना चाहिए जो समाज की खामियों को प्रकट कर रहा है और ज्यादतियों के विरुद्ध चेतावनी दे रहा है।

मुख्यधारा की फिल्मों ने सामाजिक समस्याओं के संबंध में लीक से हटकर फिल्मों की चिंता को सहयोगित कर लिया और लोकप्रिय सिनेमा सामाजिक समाजता, ग्रामीण प्रवर्जन, साम्प्रदायिकता, जातीयता, नारी आंदोलन और राजनीति के अपराधीकरण पर फोकस करने लगा।

इन फिल्मों में भावुकता की भी कमी रहती थी, यही नहीं इनमें मौलिक उत्तेजना का और भी अभाव था। उसी उड़िया बाजार को निराद महापात्र, विप्लव राय चौधरी और बाद में ए. के. बीर तथा मनमोहन महापात्र के रूप में नई प्रतिभाएं मिलीं। इसी तरह पूर्वोत्तर क्षेत्र में जनू बुरुआ, अरिबम श्याम शर्मा तथा भवन सौकिया द्वारा निर्मित फिल्मों के साथ इन्होंने राष्ट्रीय मंच पर अपना स्थान बनाया। मराठी सिनेमा को जो भारतीय सिनेमा के अंगुवा में से है, जब्बर पटेल, अमोल पालेकर की फिल्मों से नया महत्व मिला।

अतिरिक्त प्रोत्साहन

सरकार द्वारा उपलब्ध कराया गया वित्त सहयोग का केवल एक लेकिन महत्वपूर्ण पहलू था। ज्यों ही फिल्मों का निर्माण हो जाता था, राष्ट्रीय स्तर पर उनकी अच्छाइयों को सान्यता राष्ट्रपति पुरस्कारों द्वारा मिलती थी। जब सरकार ने फिल्म समारोह निदेशालय के माध्यम से पूरे विश्व में उनके प्रदर्शन की

व्यवस्था की तब उन्हें अतिरिक्त मान्यता मिली। इन सब से संकेत पाकर राज्य सरकारों ने स्वस्थ सिनेमा के हित में अनेक उपाय शुरू किए। गुजरात ने अपने स्टूडियो में बनाई गई फिल्मों को (एक निर्धारित समय के लिए) कर में छूट प्रदान की तो आंध्र प्रदेश ने अपने यहां बनाई गई किसी भी फिल्म को सबसिडी दी। महाराष्ट्र ने निर्माता को अगली फिल्म के लिए मनोरंजन कर के रूप में वसूल की गई रकम वापस की। पश्चिम बंगाल ने देश में संबंध से पहले ‘फिल्म विकास निगम’ की स्थापना की, जिसने न केवल फिल्मों का निर्माण और उनकी वित्तीय सहायता की बल्कि रंगीन प्रयोगशालाओं की भी स्थापना की; शिल्पशाखाओं का अधिग्रहण किया और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसने नंदन फिल्म काम्प्लेक्स की स्थापना की। इस काम्प्लेक्स में एक पुस्तकालय और एक सभागार भी है। उड़ीसा ने आगे चलकर फिल्म रचना और निर्माण को लघु उद्योग घोषित किया। यद्यपि इनमें से कई योजनाएं असंतुलित हो सकती हैं लेकिन इससे साबित हो गया कि राज्य सरकारें स्वस्थ सिनेमा के प्रति जागरूक हैं। राज्य सरकारें खिड़की पर आय की पूरी न सही आधी राशि प्राप्त करती हैं।

इसके अतिरिक्त फिल्म जांच समिति की सिफारिशों पर एक और संस्थान की स्थापना की गई—एफ. टी. आई. आई.। इसने ऐसे कर्मियों को प्रशिक्षण दिया जो फिल्म निर्माण के तकनीकी पक्ष में भी उतने ही दक्ष थे जितने इसके सौन्दर्य में। एफ. टी. आई. आई. में प्रशिक्षण प्राप्त निर्देशकों ने सातवें दशक के प्रारंभ में अपनी दक्षता की छाप छोड़ना शुरू कर दिया था। मणि कौल और कुमार शाहनी ने तो आठवें दशक तक सभी जंगह अपनी पहचान बना ली। लीक से हटकर फिल्मों और टेलीविजन, यही नहीं व्यावसायिक फिल्मों में भी सैयद मिर्जा, केतन मेहता, कुंदन शाह, प्रकाश झा, सुभंकर घोष, आनंद महेन्द्र ने अपनी पहली ही फिल्म में साबित कर दिया

कि उन्हें सैलूलॉयड माध्यम का प्रयोग करना आता है। इससे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि दर्शकों की नज़र पर भी उनकी पकड़ है। वे एक के बाद एक सीरियल लेकर आये जिन्होंने भारत में टेलीविजन के संबंध में दर्शकों के बोध को ही बदल दिया।

प्रस्थान

शायद इन सभी के बारे में सबसे दिलचस्प बात यह थी कि मुख्यधारा की फिल्मों ने भी जो वास्तव में निर्माताओं के व्यावसायिक हितों से भरे हुए थे, इन सुविधाओं से तेजी से लाभ उठाये। सर्वप्रथम मुख्यधारा सिनेमा ने सामाजिक समस्याओं के संबंध में लीक से हटकर फिल्मों की चिंता को सहयोजित कर लिया और लोकप्रिय सिनेमा सामाजिक समानता, ग्रामीण प्रवर्जन, साम्प्रदायिकता, जातीयता, नारी आंदोलन और राजनीति के अपराधीकरण पर फोकस करने लगां। लेकिन सिनेमा के क्षेत्र में सिनेमा कर्मियों का बड़े पैमाने पर प्रवेश अधिक स्पष्ट था। पहले अभिनेता और अभिनेत्रियां : जया भाटुड़ी, शबना आजमी, शत्रुघ्न सिन्हा, डैनी, असरानी, नसीरुद्दीन शाह आये। इसके बाद के. के. महाजन और ए. के. बीस, जहांगीर चौधरी और रेणु सलूजा, हितेन घोष और डेविड ध्वन जैसे तकनीशियन आये। उन्होंने लोकप्रिय सिनेमा में तकनीकी दक्षता की सूक्ष्म आभा भरी। इसके अलावा विश्व की श्रेष्ठ फिल्मों से प्रभावित ऐसे निर्देशक भी थे जिन्होंने कम सुविधा के साथ स्वप्निल चित्रों और फार्मूला के भी उपयोग किये। परिणाम आज सबके सामने हैं। आज भारतीय व्यावसायिक सिनेमा के सबसे बड़े शोमैन सुभाष घई हैं। ये एफ. टी. आई. आई. से हैं और यहाँ नहीं उन्हें निर्देशन में प्रत्यक्ष प्रशिक्षण भी प्राप्त नहीं है।

इस संकट काल में भारतीय सिनेमा के स्वस्थ विकास में सरकार की भूमिका का महत्व और बढ़ गया है। इसलिए नहीं कि 'भवन शोभा' के पर्दे पर आने के बाद एक चौथाई

शताब्दी पूरी हो गई या इसलिए नहीं कि यह भारतीय सिनेमा का सौंवा वर्ष है बल्कि इसलिए कि आर्थिक सुधारों का जनादेश बहुत व्यापक है। सरकारी तंत्र को आर्थिक उदारीकरण नीतियों के कार्यान्वयन में लगा दिया गया है। उदारीकरण का एक महत्वपूर्ण निर्णय यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपकरणों को संरकार से किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं लेना चाहिए। स्वाभाविक रूप से यह उन संगठनों पर भी लागू होता है जो स्वस्थ सिनेमा के विकास में सहयोग करते आ रहे हैं। बहुत लोगों का तर्क है कि विश्व भर में सिनेमा का पोषण और विकास निजी क्षेत्र में हुआ है तो भारत में क्यों कोई फर्क होना चाहिए, जहाँ संसाधनों की काफी कमी है। इसीलिए सरकार इस बात पर जोर दे रही है कि एन. एफ. डी. सी. को व्यावसायिक मानदंडों के साथ काम करना चाहिए। एक स्वीकार्य स्तर तक मुनाफे के लिए बचनबद्ध एन. एफ. डी. सी. को अपने उद्देश्यों के साथ समझौता करने का यह एक कारण है। मुक्त बाजार वातावरण में विचार की मौलिकता असंभव लगती है क्योंकि वहाँ मुख्य चिंता अधिक से अधिक लाभ कमाना है। ऐसा समानांतर के स्वरूप और विषयवस्तु दोनों में देखने को मिलता है। इसलिए क्या, "लीक से हटकर" सिनेमा इस समझौते को झेल सकता है और यदि यह झेल नहीं सकता तो क्या हमें इस संपूर्ण आंदोलन का दम घोटने देना चाहिए जो समाज की खामियों को प्रकट कर रहा है और ज्यादतियों के विरुद्ध चेतावनी दे रहा है। लीक से हटकर फिल्मों ने अंतः करण के रूप में काम किया है।

इस संदर्भ में सिनेमा की जन्मभूमि फ्रांस के अनुभवों का उल्लेख करना प्रासारिक होगा। इस बात की वकालत की जा रही है कि सिनेमा को एक उगाभीक्ता वस्तु के रूप में नहीं लिया जा सकता, इसलिए इसे गैट वार्ता में व्यापार शुल्क सूची में नहीं रखा जा सकता है। लेकिन फ्रांस जो वास्तव में अन्य यूरोपीय देशों की

भावनाओं को प्रकट कर रहा है, क्यों इस तरह का रवैया अपनाने की आवश्यकता महसूस कर रहा है। क्या केवल हॉलीवुड के प्रभुत्व से अपने सिनेमा को बचाने के लिए ऐसा कर रहा है। हॉलीवुड फिल्मों की चुनौतियों का सामना कर रहे अनेक यूरोपीय देश महसूस करते हैं कि जो राष्ट्र अपना गीत नहीं गा सकता, अपनी कहानी नहीं लिख सकता और अपनी फिल्में नहीं दिखा सकता, वास्तव में वह गरीब है। भारत में भी ऐसी ही स्थिति विद्यमान है जिससे मुख्यधारा फिल्में चाहे वे हिन्दी में हों या दूसरी भाषाओं में, हॉलीवुड की तरह और अनेक मामलों में हॉलीवुड फिल्मों पर फलपूल रही है। जो सफल हुआ है उसकी नकल करने में कोई पाप-शंका नहीं है। इस तरह हम लोगों को हॉलीवुड की सफल फिल्मों की विषयवस्तु पर फिल्म बनाने वाला मान लिया गया है। यदि नकल करने की यह कला हमारे किसी बड़े फिल्म निर्माण केन्द्र में सफल हो जाती है तो वह दिन दूर नहीं जब कामुक लोगों से भरा निर्माण केन्द्र तैयार होने लगेगा। इस तरह एक हिट फिल्म कई मुकाबलों को बढ़ावा देती है और बंबई की एक सफल फिल्म कलकत्ता की कई फिल्मों की असफलता का कारण बनती है। जहाँ तक असफलता का प्रश्न है तो यह स्थापित हो चुका है कि मुख्यधारा में भी केवल पांच प्रतिशत फिल्में ही व्यावसायिक रूप से सफल होती हैं और इस असफलता में आलोचनात्मक जयघोष की आशा की किरण भी नहीं होती। जब हम 'भूवन शोभा' को सरकार के सहयोग से अच्छी फिल्म अभियान का शुभारंभ करने वाली फिल्म के रूप में लेते हैं तो हम इस तथ्य को नजरअंदाज कर देते हैं कि एफ. एफ. सी. ने 'चारूलता' को सुनहरे परदे पर लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी जो सत्यजित राय की अपनी शुगुनियां फिल्मों में व्यक्तिगत पसंदीदा फिल्म है और वह विश्व की कुछ मुट्ठी भर उत्कृष्ट फिल्मों में भी एक है। वर्षों बाद, कमज़ोर कर देने वाले दिल के दौरे से स्वस्थ होने के बाद सत्यजित राय जब

(शेष पृष्ठ 50 पर)

सपनों के सौदागर

निकहत काज़मी

समानांतर लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा के मशहूर फिल्म निर्माताओं की कहानियों और शैली के विश्लेषण के बाद लेखक का मानना है कि यह कालचक का एक रंगीन दर्पण है, जिसके रंग गहरे हो सकते हैं, नाटकीय और कई बार अवास्तविक भी, लेकिन फिर भी यह आम लोगों के लिये मुख्य भोजन के सदृश्य ही है।

प्रति वर्ष लगभग 800 फिल्मों के निर्माण ने, भारतीय सिनेमा को देश में अभिव्यक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम बना दिया है। सिनेमा के व्यापक विस्तार और लाखों लोगों की आशा, भय, प्रेरणा और कल्पनाओं का साकार रूप होने के कारण लोग इसके जादुई आकर्षण की ओर स्वतः खिंचते हैं। सिनेमा एक ऐसा जादू है, जो प्रतिक्षिणी माध्यमों की प्रतियोगिता के बाद भी कभी मर नहीं सकता। आज टेलीविजन और उपग्रह नेटवर्क की बेतहाशा वृद्धि के असर से बेखबर, सिनेमा एक बार फिर बाक्स आफिस पर लम्बी कतारों का साक्षी बन रहा है। अब टी.वी. और स्टार चैनलों का उन्माद धीरे-धीरे घटने लगा है और इन चैनलों को देखने वाला दर्शक अब बड़े पर्दे के आकर्षण से फिर वशीभूत होने लगा है।

पुनर्जद्गम

लोकप्रिय सिनेमा के इस पुनर्जद्गम के पीछे फिल्म निर्माण की उन्नत तकनीक शामिल है। महबूब खान, बिमल, गुरुदत्त और राजकपूर का युग भले ही समाप्त हो गया हो, लेकिन समानांतर हिन्दी सिनेमा के पास अब भी नये और पुराने कुछ ऐसे नाम हैं, जिन पर वह शर्व कर सकता है। इनमें सुभाष धई, यश चोपड़ा, महेश भट्ट, सूरज बड़जात्या, राजकुमार संलेखी और डेविड धब्बन जैसे निर्माता शामिल हैं, जिन्होंने अपनी ऐसी विशेष फिल्मों, जो आधुनिक हैं, जीवन से विशाल हैं, अत्यधिक रंगीन हैं और अक्सर किसी मुद्दे से जुड़ी हुई होती हैं, के माध्यम से दर्शकों को वापस सिनेमा

प्रेक्षागृहों में लाने में सफलता पाई है। आज लोकप्रिय सिनेमा का वास्तविक श्रेय किसे है? फिल्म के आकर्षण का क्या रहस्य है? यदि इस पर विचार करें तो पता चलता है कि मशहूर सितारों के बिना इस युग में सिनेमा निश्चित तौर पर निर्देशकों की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। “देवदास” की दुखद कहानी या “मुगले आजम” में राजकुमार सलीम की बागी भूमिका में दिलीप कुमार की करिश्माई अदा, “आनन्द” में मौत को मुस्कराते हुए गले लगाने वाले राजेश खन्ना और ‘70 तथा 80 के दशक में “एंग्री यंग मैन” की भूमिकाओं में अमिताभ बच्चन ने नई जान फूंक दी। सिनेमा की शक्ति अब उसकी कहानी और उसे बोलने के अंदाज पर आश्रित होने लगी। परिवर्तनशील 90 के दशक में एक बार फिर फिल्म निर्माता ही सफलता के केन्द्र बिंदु बन गये। फिल्म “कयामत से कयामत तक”, “मैंने प्यार किया”, “आंखें”, “दिल”, “वेटा”, “सड़क”, “खलनायक”, “डर” और “हम आपके हैं कौन” की सफलता ने इसे प्रभावित किया।

जादुई रचना

एक भारतीय परिवार की साधारण-सी कहानी पर आधारित फिल्म “हम आपके हैं कौन” बाक्स आफिस पर एक नया कीर्तिमान स्थापित कर रही है। इसका एक मात्र कारण यह है कि निर्देशक सूरज बड़जात्या ने इसमें जादुई रंग भर दिया। एक ऐसी फिल्म जिसमें परंपराओं के साथ आधुनिकता को भी शामिल

किया गया और जिसका अंत पूर्व स्थापित भारतीयता की भावना की पुनर्परिभाषा थी। “मैंने प्यार किया” (बड़जात्या की पहली फिल्म) और “हम आपके हैं कौन”, दोनों शहरी परिवेश पर आधारित हैं। एक बड़ा शहर, जिसके एक बड़े व्यावसायिक धूरने की कहानी। इन दोनों फिल्मों में नायक किशोरावस्था की दहलीज पर थे और पारिवारिक व्यापार में हाथ बंटाने लगे थे। “मैंने प्यार किया” में नायक अमरीका में अपनी शिक्षा पूरी कर वापस लौटा था, हालांकि उसके मूल्य पूर्णतः भारतीय पंसपराओं पर आधारित थे। फिर बात प्यार और शादी की आई, वह ऐसी लड़की की खोज करने लगा जो घरेलू और स्थानीय परंपराओं तथा तौर-तरीकों से अच्छी तरह परिचित हो, इसलिये वह सुमन (भास्यश्री) की खातिर अमीर-गरीब की दीवार को तोड़ते हुए अपने प्रिय पिता के खिलाफ विद्रोह के लिए भी तैयार हो गया। उसकी प्रेमिका बहुत साधारण, दो चुटिया बांधने वाली, सूती सलवार कमीज और रबर की चप्पलें पहनने वाली थी।

सुमन एक छोटे से कस्बे की निहायत साधारण लड़की की तस्वीर थी, जो उत्तर माध्यमिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने के बाद किशोरावस्था की लड़कियों की दिलचस्पियों से अलग घर के छोके में अपना ज्यादा समय गुजारती है। सुमन एक भारतीय युवती की अनुषुई भावनाओं की पुनर्स्थापना की भी प्रतीक है। वह शहरी युवाओं के

चतुराई; अशिष्ट और मर्यादाहीन वासना से भरे आनंद से दूर पारंपरिक भारतीय उत्सवों और पारिवारिक समारोहों की मेंहदी की रस्म और साधारण-सी अंत्यक्षरी को ज्यादा पसंद करती है।

“हम आपके हैं कौन” में सुमन की बहन के समान निशा थी। मदिरों के शहर राम टेकरी की छोटी सी प्यारी सी लड़की। निशा (माधुरी दीक्षित) ने भी सुमन की तरह आधुनिक शिक्षा पाई थी। कम्प्यूटर में स्नातक निशा को आइसक्रीम, केन्डीस और रोलर स्कैटर्स बहुत पसंद थे और वह पूरे शहर में पूरी आज़ादी और विश्वास के साथ घूमती थी। फिर भी वह एक पूर्ण परंपरावादी भारतीय नारी थी। जब चयन का प्रश्न उठा तो अपने प्यार से भी अधिक उसने पारिवारिक हितों को प्राथमिकता दी। जब उसका परिवार चाहता था कि उसकी शादी उसकी मृत बंहन के पति से हो तो एक सुखद वैवाहिक जीवन की अभिलाषा त्यागकर वह अपने सपनों के पुरुष (सलमान खान) से भी रिश्ते समाप्त करने के लिये तैयार हो गई।

उसके इसी त्याग और बिना किसी प्रश्न के बड़ों की आज़ा पालन की भावना ने माधुरी दीक्षित की निशा वाली भूमिका को आज भारतीय महिलाओं के लिए एक आदर्श की प्रतिमूर्ति बना दिया है। माधुरी और सलमान खान अपनी अलग-अलग प्राथमिकताओं के साथ एक बड़े परिवार के आदर्श सदस्य के रूप में उभर कर सोचने आये हैं, विशेषकर उस युग में जब समकालीन युवाओं के शब्दकोष में स्वतंत्रता का पर्याय विद्रोह बन चुका हो। संयुक्त परिवार की जगह छोटे परिवारों ने ले ली हो और जहां युवा बुजुर्गों और दुर्बलों पर शासन करते हों।

बिना मिलावट की भारतीयता की भावना के प्रति निर्देशक के झुकाव को न सिर्फ उसके चरित्रों में अभिव्यक्ति मिली है बल्कि संपूर्ण फिल्म में उसे इस दिशा में सफलता हासिल हुई है। दोनों फिल्मों “मैंने प्यार किया” तथा

“हम आपके हैं कौन” की कहानी परत-दर-परत मान्यताओं, परंपराओं और उत्सवों पर प्रकाश डालती है जो आदर्श भारतीय जीवन शैली का निर्माण करते हैं। परिवार के रहने वाले कमरे, चौके और भोजन कक्ष की हकीकत को एक नाटक के रूप में गीत और नृत्य की शृंखला के साथ प्रस्तुत किया गया। वास्तव में “हम आपके हैं कौन” कागजी कहानी से अलग पारंपरिक भारतीय विवाह के विस्तारित

एक भारतीय परिवार की साधारण सी कहानी पर आधारित फिल्म “हम आपके हैं कौन” बाक्स ऑफिस पर एक नया कीर्तिमान स्थापित कर रही है। इसका एक मात्र कारण यह है कि निर्देशक सूरज बड़ाजात्या ने इसमें जादुई रंग भर दिया। एक ऐसी फिल्म जिसमें परंपराओं के साथ आधुनिकता को भी शामिल किया गया।

महबूब खान, बिमल, गुरुदत्त और राजकपूर का युग भले ही समाप्त हो गया हो, लेकिन समानांतर हिन्दी सिनेमा के पास अब भी नये और पुराने कुछ ऐसे नाम हैं, जिन पर वह गर्व कर सकता है।

समारोह को गीत और नृत्य के साथ आधार प्रदान करती है। सगाई, शादी, विदाई, दुल्हन का घर आना, गर्भवती होना, बच्चे को जन्म देना और उसके बाद दूसरी शादी की तैयारी करना आदि इस फिल्म को निश्चित तौर पर भारतीय परंपराओं की रचना का मनोवैज्ञानिक, अध्ययन बना देता है।

आडंबरपूर्ण प्रणाली

एक और निर्देशक जिनकी कहानियां और रचनायें भारतीयता के ईर्द-गिर्द घूमती हैं, सुभाष घई हैं। हालांकि उनकी शैली में सिनेमा की आडंबरपूर्ण प्रणाली का उपयोग अधिक होता है, जिसमें नाटकीयता ज्यादा महत्वपूर्ण है। उसके चरित्र वास्तविक जीवन से बड़े होते हैं। संगीत का चयन स्वर के मिलान के लिए होता है, नृत्यों का संयोजन बहुत शानदार होता है और यह कहानी के साथ जुड़े हुए होते हैं। फिल्म निर्माण में ज़मीन और आकाश के सहज

रंगों की, कवित्व पूर्ण मान्यता के लिये हैं भाव तथा अर्थ में सूक्ष्म अंतर के साथ उपयोग किया जाता है और फिल्म का कुल असर मिली-जुली कहानियों, चरित्रों, संगीत और काल्पनिक दृश्यों के माध्यम से मस्तिष्क में हलचल मचा देने वाला होता है।

घई की कहानियां रामायण के विषय से संबंधित होती हैं। वह अपने अभिनेताओं के चरित्र को बहुधा पौराणिक कथाओं के नायकों की भूमिका के सदृश्य बना देते हैं और कहानियों में मूल्यों का संघर्ष नज़र आता है जैसे “रामलखन” में राम और लक्ष्मण का और “खलनायक” में राम और रावण का। “रामलखन” में बड़ा भाई राम (जैकी श्रोफ) अच्छाइयों का प्रतीक है, उसके चरित्र एक ईमानदार सिद्धांतों वाले पुलिस अधिकारी का है जो सुपरिभाषित मूल्य प्रणाली के प्रति पूर्ण समर्पित है, राम अपने छोटे भाई लखन (अनिल कपूर) के चरित्र और आदतों के बिलकुल विपरीत है। लखन ज्यादा सांसारिक और भौतिकवादी युवा है, जिसका मानना है कि किसी हित या स्वार्थ के लिए मूल्यों को सुविधानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। उसका सिद्धांत था ‘‘वन टू का फोर’’ (एक से दो, दो से चार) जिसका अभिप्राय था कि इस दुनिया में धनकुबेर होने से या बेशुमार दौलत अर्जित करने से ही आदमी की सफलता को मापा जा सकता है और यदि यह संपत्ति थोड़ी बेईमानी, भ्रष्टाचार और समझौते से भी अर्जित की जाए तो उसमें क्या बुराई है। आज के इस नये युग में रामायण को महज पौराणिक शैली की पुस्तक और एक टेलीविज़न धारावाहिक से अधिक कुछ नहीं समझा जाता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि घई ने अपनी कहानी में लखन की गलत मान्यताओं को निरस्त करते हुए सही मूल्यों और मान्यताओं की स्थापना की।

“खलनायक” में उग्रवादी (संजय दत्त) जिसने देश के दुश्मनों को अपनी आत्मा बेच दी, रावण के ही चरित्र में नज़र आया। यहां

भी एक पतित व्यक्ति को ईश्वर सदृश्य इंस्पेक्टर राम (जैकी श्रोफ) के चरित्र के सर्वथा विपरीत दिखाया गया, जिसने धीरे-धीरे सभी पापों से मुक्ति लेकर आत्मा की शुद्धि कर ली। इस तरह से बल्लू बलराम जो समचमुच एक बुरा इंसान था अपने परिवार, देश और प्रेमिका के लिये एक रक्षक की तरह उभर कर सामने आया।

राष्ट्र हित सर्वोपरि

कई शक्तियों द्वारा देश को खतरे में डालने की कहानी व्यावसायिक सिनेमा के प्रमुख विषय के रूप में उभरी है और देश हित को सर्वोपरि भानने वाले ऐसे निर्देशकों की कतार का नेतृत्व मणिरलम जैसे निर्देशक करते हैं। यदि रोज़ा कश्मीर में अलगाववादी आंदोलन की कहानी है तो बाब्के में धार्मिक कट्टरपंथियों और देश में बढ़ती सांप्रदायिक घटनाओं के खिलाफ आवाज बुलंद की गई है। रिशि कुमार (अरविंद स्वामी) एक अभियंता जिसका कश्मीर उग्रवादियों के एक गुट द्वारा अपहरण कर लिया गया था वह राष्ट्रीय ध्वज के सम्मान के लिये अपने प्राण न्यौछावर कर देने को व्याकुल है। उसे अपनी जान से मारने की धमकियों की कोई परवाह नहीं, वह अपने आप को उस जलते हुए तिरंगे पर डाल देता है और आग की लपटें बुझाने में सफल हो जाता है जिसे पाकिस्तान समर्थक आतंकवादियों ने आग लगा दी थी। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण वह देशद्रोहियों के समक्ष देशभक्ति के मूल्य रखकर और विश्वासघात को कुत्सित बताकर उनके हृदय भी परिवर्तित कर देता है।

“बाम्बे” फिल्म भाईचारे और सांप्रदायिक सदूचाव के रूप के संदेश को दोहराती है जाति और धर्म की सीमाओं से दूर मानव की एकता को दर्शाती है। रूपम ने 1992 के बाद के देश के संवेदनशील सांप्रदायिक माहौल के बीच एक अंतर्धार्मिक प्रेम कहानी का चित्रण किया है। उन्होंने राजनैतिक कपट, अवसर-वादिता और धृष्णा तथा नफरत के उस उन्मादी दर्शन में सफलतापूर्वक प्रेम के आनंद की

अनुभूति का संचार किया है जो समाज के सदूचावनापूर्ण ताने-बाने में छेद कर रहा है और चित्रवत पड़ोसियों में कटुता उत्पन्न कर रहा है तथा पहले से स्थापित घरेलू शांति, प्रेम और

एक और निर्देशक जिसकी कहानियां और रचनायें भारतीयता के ईर्द-गिर्द धूमती हैं, सुधार और धर्म हैं। हालांकि उनकी शैली में सिनेमा की आंडबरपूर्ण प्रणाली का उपयोग अधिक होता है, जिसमें नाटकीयता ज्यादा महत्वपूर्ण है।

कई शक्तियों द्वारा देश को खतरे में डालने की कहानी व्यावसायिक सिनेमा के प्रमुख विषय के रूप में उभरी है और देश हित को सर्वोपरि भानने वाले ऐसे निर्देशकों की कतार का नेतृत्व मणिरलम जैसे निर्देशक करते हैं।

सुख में अपनी कुरुक्षेत्रा के साथ घुसपैठ कर रहा है। जैसा शैला बानो (मनीषा कोइराला) और शेखर (अरविंद स्वामी) के मामले में।

रूपम द्वारा रथयात्रा, मस्जिद का गिराया जाना, विद्रोह के बढ़ते हुये राजनैतिक पक्ष, सांप्रदायिक संहार जिसने उसकी एकता और एक होने की तीक्ष्ण अभिलाषा के बावजूद पूरे बंबई को प्रभावित किया था, अपने समय का बंबई पर लगा एक कलंक था। दूसरी तरफ फिल्म ने रूपम को तकनीकी कुशलता से अधिक एक ऐसे महत्वपूर्ण राजनैतिक फिल्म निर्माता के रूप में तबदील किया जो खतरों से खेलना चाहता है। इसका अधिक महत्व इसलिये भी है कि यह उस समय हुआ जब फिल्म-निर्माताओं की बड़ी-संख्या बाक्स आफिस पर अधिकार के लिये सुरक्षित राह अपना रही हो।

नये सिपाही

मेहुल कुमार की ‘क्रांतिवीर’ और ‘तिरंगा’ की कहानियां भी देशप्रेम के ईर्द-गिर्द ही धूमती हैं। कुछ समय पहले जैसा मनोज कुमार की फिल्मों में होता था। हालांकि इस बार यह पद्धति ज्यादा लोकप्रिय हुई और इसने कुछ अनछुये पहलुओं को भी तीखेपन के साथ

उभारा। उनकी दोनों फिल्मों में जो बाक्स आफिस पर सफल नहीं रहीं, नाना पाटेकर एक सच्चे इंसान और राष्ट्रवादी के रूप में उभरकर सामने आये। ‘तिरंगा’ में उनकी भूमिका एक तेजतरार पुलिस अधिकारी की थी जो देश को अशांत करने के लिये प्रयासरत बाहरी शक्तियों से मुकाबले के लिये, शांतिवादी सैन्य नीतियों को संचालित करने वाली शक्तियों (राजकुमार) के साथ मिल जाता है। ‘क्रांतिवीर’ में वह एक साधारण लेकिन ज़िदी आदमी है और जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है, लेकिन उसने अपनी जिद और चिड़चिड़ेपन को उस समय दरकिनार किया जब देश के दुश्मनों ने देश को नुकसान पहुंचाना शुरू कर दिया। उसके बाद जब “बाम्बे” फिर सांप्रदायिक आग में जलने लगी, वह राख से एक अद्भुत और अपूर्व व्यक्ति की तरह उठा और उसने हिन्दू मुस्लिम भाई-भाई के सिद्धांत की पुनर्स्थापना के लिये अथक प्रयास किये। वह अपने इस महान उद्देश्य में कामयाब हुआ और राजनैतिक दृष्टि से ही सही इस सिनेमा ने धरती के नये सिपाहियों पर प्रकाश डालते हुए व्यावसायिक सिनेमा का रूप धारण कर लिया।

बाक्स आफिस पर ऐसी फिल्मों की सफलता इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि आंतरिक अशांति के लिये बाहरी दुश्मनों पर आरोप लगाने के साधारण विश्लेषण ने दर्शकों की संवेदनशीलता को कहीं न कहीं जरूर प्रभावित किया है।

निंदर और सुंदर

यश चोपड़ा की फिल्मी यात्रा हृदय की सीमाओं से जुड़ी हुई और उसकी अबोध्य उत्तेजना से संबंधित होती है। ‘कभी-कभी’, ‘सिलसिला’, ‘चांदनी’ और ‘लंग्ह’ का ‘सफर’ ‘डर’ की गहराइयों तक गया। चोपड़ा लगातार बड़ी संख्या में प्रेम के कोलाहल की संभावनाओं का पता लगाते रहे हैं। उनके चरित्र हमेशा उच्च-मध्यम वर्ग से आते हैं और प्रेम कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती

जाती है, रंगीन, संगीतपूर्ण तथा साहस और सुंदरता का दर्पण होती जाती है। दबा कुचला हुआ प्यार, गैर-वैवाहिक संबंधों के कोण, भाग्य के खिलाफ प्यार, एक ऐसी भावना जो उम्र और मान्यताओं के बंधनों को नहीं मानती और अंतिम रूप से किसी को हासिल करने के लिए अपने को समाप्त कर लेने की पीड़ा ही उनके निर्माण की विशेषता है। चोपड़ा का फिल्म शास्त्र वर्तमान में अनिश्चित विश्वव्यापी मानव संबंधों में उठते तूफान को अपनाता नज़र आता है।

यहां पर हालांकि फिल्म निर्माता विसीपिटी अभियक्ति से बचकर अनछुई कहानियों की ओर बढ़ने की कोशिश करते नज़र आते हैं। ‘चांदनी’ में वह समानांतर मुख्यधारा की अविस्मरणीय महिला चरित्र को लेकर आये, जो प्यार करने वाली अन्य अधिकतर महिलाओं से अलग एक ऐसी महिला है जो अपने दिमाग से चलती है। वह ऋषि कपूर को व्याकुलता की हद तक प्यार करती है, लेकिन तिरस्कार और हँसी का पात्र नहीं बनना चाहती। इसलिये जब वह उसे सताता है तो वह अपनी जिंदगी को एक नया रूप देने के लिये उससे दूर चली जाती है। आमतौर पर ऐसी स्थिति में नायिका आत्महत्या के विकल्प को चुनती है जिसके यह एकदम विपरीत है।

‘लम्हे’ में गैर-पारंपरिक अभियक्तियों की तलाश का सिलसिला और थोड़ा आगे बढ़ता है। यहां भी भारतीय सिनेमा पहली बार एक नये रिश्ते का साक्षी बनता है। पूजा (श्रीदेवी) नायिका, एक ऐसे व्यक्ति से प्यार करने लगती है, जो शायद उसके पिता की जगह पर होता। ‘डर’ में चोपड़ा ने प्यार से आगे चलकर एक और अनछुये क्षेत्र (आबसेशन) को लिया। यह और खतरनाक बात है, जिसमें प्यार के कारणों के लिये कोई जगह नहीं होती और प्यार सिर्फ दिल की पुकार के प्रति उत्तरदायी होता है, इस पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। राहुल, नायक अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये हत्या के लिए भी तैयार हो जाता है। “डर” वास्तव

में रुपहते पर्दे की एक असामान्य प्रेम कहानी के रूप में समाप्त होती है। जिसमें एक उन्मादी पागल प्रेमी की आत्मा की गहरी अंदरूनी कहानी को दर्शाया गया है।

महेश भट्ट, सहज कोमल भावनाओं के एक और कुशल चित्तरे हैं। ‘अर्थ’, ‘सारांश’, ‘नाम’, ‘जन्म’, ‘सर’, ‘आशिकी’ और ‘सङ्कुश’ जैसी फिल्मों को भट्ट ने शुद्ध भावनाओं से सराबोर कर दिया है। उनके चरित्र मज़बूत हैं। ऐसे

मेहुल कुमार की ‘क्रांतिवीर’ और ‘तिरंगा’ की कहानियां भी देशप्रेम के ईर्द-गिर्द ही घूमती हैं। कुछ समय पहले जैसे मनोज कुमार की फिल्मों में होता था। हालांकि इस बार यह पद्धति ज्यादा लोकप्रिय हुई और इसने कुछ अनछुये पहलुओं को भी तीखेपन के साथ उभारा।

यश चोपड़ा की फिल्मी यात्रा हृदय की सीमाओं से जुड़ी हुई और उसकी अबोध्य उत्तेजना से संबंधित होती है। ‘कभी-कभी’, ‘सितासिला’, ‘चांदनी’ और ‘लम्हे’ का ‘सफर’, ‘डर’ की गहराइयों तक गया। चोपड़ा लगातार बड़ी संख्या में प्रेम के कोलाहल की संभावनाओं का पता लगाते रहे हैं। उनके चरित्र हमेशा उच्च-मध्यम वर्ग से आते हैं और प्रेम कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, रंगीन, संगीतपूर्ण तथा साहस और सुंदरता का दर्पण होती जाती है।

लोग जो सिर्फ भावनाओं में जीते हैं उनमें सर्वत्र व्याप्त रहने के लिये पूरी तरह से प्रबंल और तीव्र रुझान है। ‘अर्थ’ में एक पारंपरिक महिला की कहानी जो अपने पति से उसकी नास्तकिता के कारण झगड़ा करती है, ‘सारांश’ में एक उम्रदराज दंपत्ति जिसके बेटे की असामायिक मृत्यु हुई है, की चिंतायें और क्रोध, ‘नाम’ में दोगलेपन का उत्पात, ‘सर’ में भूमिगत अपराधियों के मानवीय चेहरे की झलक तथा ‘आशिकी’ में उच्छृंखल प्रेम की उत्कंठा से भट्ट ने लाल, बैंगनी और नीते विश्व में प्रेम और शृणा के सभी सशक्त भावों को एक नया रंग दिया और इसे फैलाया।

आम आदमी और उसकी समस्यायें

सङ्क के आदमी की समस्याओं को लेकर निर्देशक एन. चंद्रा ने फिल्में बनाई हैं। उनकी फिल्में कम्बोवेश हृदय को छू जाती हैं और उनके मूल में जन असंतोष होता है। ऐसी समस्यायें जो राजनैतिक भ्रष्टाचार, अपराधी गिरोहों से मुठभेड़, माफिया शक्तियों की नीतियों और लाचार कानून और व्यवस्था से उत्पन्न होती हैं। ‘अंकुश’ एक ऐसी फिल्म थी जिसने एक ऐसी पीड़ी को प्रेरित करने की कोशिश की, जो पथभ्रष्ट हो चुकी है। चन्द्रा ने ‘प्रतिधात’ में एक लोकप्रिय विद्रोही चरित्र दिया। छोटे आदमी की बड़े लोगों के सामने स्थिति, बल और दुष्ट माफिया को ‘नरसिंहा’ में दिखाया तो नारी शक्ति की झलक ‘तेजस्वनी’ में। यह फिल्म एक महिला पुलिस अधिकारी की आंतरिक भ्रष्टाचार और बाहरी अशांति के खिलाफ लड़ाई की साहसिक कहानी है, जिसने उन सैकड़ों महिलाओं को शक्ति प्रदान की जो फिल्म देखने के बाद पुलिस में शामिल हुई।

कामेडी या हास्य का क्षेत्र डेविड धवन जैसे निर्माताओं के लिये खेल के मैदान के सदृश्य है। जिन्होंने मनमोहन डेसाई की फिल्मों जैसे-‘अमर अकबर’ एन्थोनी, ‘नसीब’ और ‘कुली’ में बहुत सावधानी से भरे गये रंगों के झूलों की फिर से खोज की कोशिश की है। धवन ने फिल्म संसार को ‘आंखें’, ‘ईना, मिना, डीका’, ‘राजा बाबू’ और ‘कुली नम्बर एक’, जैसी फिल्में दी हैं, इनमें न. तो कहानी और न ही चरित्र को कोई महत्व दिया गया है। मात्र एक भोड़ा लट्ठमार हास्य और अस्तव्यस्तता से भरे धारावाहिक, जिन्हें आनंद के लिये एक शुंखला में पिरो दिया गया है। कुछ अवसरों पर यह हास्य अपरिपक्व और असभ्य प्रतीत होता है, लेकिन रंगों का यह जादू कहता है कि कभी असफल न हों, और धवन सफल व्यावसायिक फिल्म निर्माताओं की सूची में आज शामिल हैं।

(शेष पृष्ठ 50 पर)

फिल्म निर्माताओं का प्रशिक्षण

जॉन टी. सी. शंकरमंगलम

सिनेमा के लम्बे इतिहास के सभी महत्वपूर्ण बिंदुओं पर तकनीकी प्रयासों से

जो वैकल्पिक प्रेरणा मिली, उसने सिनेमा को मजबूती और सुंदरता दोनों ही प्रदान किये और इसीलिये आज सिनेमा और टेलीविजन का भविष्य कुशल प्रशिक्षित तकनीकी हाथों में है।

हाल ही में लेखक को सिनेमा के एक शिक्षक का व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। वे पिछली शताब्दी के अंत में सिनेमा के जन्म के समय बनाई गई फिल्मों की खूबसूरती की काफी प्रशंसा कर रहे थे व खामोश श्रोताओं को काफी कम जानी जाने वाली मूक फिल्मों के तथ्यों पर आधारित अपनी प्रेरणा को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर बता रहे थे। व्याख्यान उस शताब्दी में सिनेमा के क्षेत्र में किये गये कार्यों में छिपी सुंदरता और उच्च सौंदर्य बोध की प्रशंसा पर मूलतः केन्द्रित था। विशेषकर वह लुईस ल्यूमियर, एडविन एस. पोर्टर और जार्ज मैलियास के काम की काफी चर्चा कर रहे थे। जबकि वास्तविकता यह है कि इनके काम की रचनाशीलता या सौंदर्य मूल्यों जैसे गुणों को कोई मान्यता प्रदान नहीं की जा सकती। इन फिल्म निर्माताओं ने हाथ से जोड़ने वाले कैमरे में पुराने समय के अधिक-से-अधिक ओकर्षक दृश्य कैद किये और ऐसा करके वे सिर्फ एक जोखिम, अनुभव या उत्सुकता को ही दिखा रहे थे; लेकिन इसमें किसी 'प्रकार की रचनाशीलता' का कोई उपयोग नहीं होता था। सिनेमा के जन्म के समय की इस अपरिपक्वता को किसी भी प्रयास से छिपाया नहीं जा सकता है। जार्ज मैलियास का फिल्म संबंधी काम अज्ञात की तलाश के लिये उनकी उत्कंठा के सिलसिले में महज एक अपरिपक्व जादू ही बना रहेगा।

आज सौ साल बाद हम प्राचीन और गैर-व्यावसायिक समय में नहीं रहे, लगभग एक

शताब्दी के इस समय में सिनेमा का विकास हुआ, उसने वयस्कता पाई, परिपक्व हुआ और इसका पतन भी हुआ। लेकिन क्या अब हम सिनेमा की मृत्यु के कगार पर हैं? अथवा यह नई शैली में पुनर्जन्म ले रहा है।

है। यदि विश्लेषक सिनेमा की कला के तकनीकी आधार से पूरी तरह परिचित नहीं हैं तो सिनेमा पर लिखी गई सभी बातें, उसके काम का विश्लेषण और समालोचना या समीक्षा लिखना फर्श को कुरेदने के बराबर है।

सिनेमा जो मनोरंजन का सभी के लिये सबसे कारगर और सस्ता साधन है, गरीब और अमीर की समाज सेवा करता है। पूरी तरह काल्पनिक और भ्रामक होने के कारण सिनेमा सभी कलाओं से अलग-थलग रहता है। यह पूरी तरह एक समन्वित कला है जिसका जन्म तकनीकी आविष्कारों के माध्यम से हुआ है। यह पूरी तरह एक समन्वित कला है जिसका जन्म तकनीकी आविष्कारों के माध्यम से हुआ है। प्रमाण तथा दृश्य और फोटो रसायन विज्ञान, प्राकृतिक वनस्पति शास्त्रीय विज्ञान, जिसे छवि का अस्तित्व (अक्सर गलती से दृश्य के अस्तित्व से जोड़ा जाता है) के रूप में जाना जाता है और गति के संश्लेषण अथवा समन्वय की यदि खोज नहीं होती तो सिनेमा का जन्म शायद कभी नहीं हो पाता। सिनेमा के लंबे इतिहास के सभी महत्वपूर्ण पड़ावों पर तकनीकी प्रयासों से उसे जो विशेष प्रेरणा मिली, उसने सिनेमा को और मजबूती तथा सुंदरता, दोनों ही एक साथ प्रदान की। एक शताब्दी के अंदर ही सिनेमा एक बहुत ही नाजुक और संवेदनशील अभिय्यक्ति बन गया। इसलिये इसमें प्रयुक्त तकनीक को समझे बिना इसके मात्र सैद्धांतिक अध्ययन से सिनेमा को पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता।

फिल्म निर्माताओं के प्रशिक्षण की आज बहुत जरूरत है। हाथ से पकड़ने वाले कैमरे के बाद, मूक फिल्मों के लिये एक समान गति के कैमरे, फिर आवाज फिल्मों के लिये उपयुक्त प्रति सैकड़े 24 को अपनाना, श्वेत और श्याम (ब्लैक एण्ड व्हाइट) टी. वी. की जगह रंगीन टेलीविजन, फोटो रसायन और दृश्य प्रकाश विज्ञान का विकास तथा बुद्ध बक्से (इडियट बाक्स) के सफाये के लिये सिनेमा के पर्दे के विस्तार की आवश्यकता आदि को देखते हुए प्रशिक्षण अपरिहार्य हो गया। हालांकि यह क्रमवार विकास मूलतः तकनीकी विकास से ही संबंधित है फिर भी इसकी अवधारणा, इसे अपनाने और निर्माण करने में और रचनाशीलता की आवश्यकता है। टेलीविजन जो पहले सिनेमा के लिए एक बड़ी चुनौती था अब उसी में समाहित हो चुका है।

सिनेमा के लिये पहले सुविधा संपत्र और अद्यतन प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना वोल्शेविक क्रांति के बाद मास्को में हुई। विश्व के पहले कम्युनिस्ट राष्ट्र में मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा के शक्तिशाली माध्यम होने के कारण सिनेमा को एक उभरती हुई कला के

रूप में ज्यादा गंभीर और महत्वपूर्ण ढंग से लेने की जरूरत महसूस की गई। जर्मनी में बीस के दशक में सिनेमा के स्वर्णिम काल में हुई खोजों और आविष्कारों ने तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय हिटलर के युद्ध के दौरान हिटलर के युद्ध विभाग के अंतर्गत बनाई गई प्रचारात्मक फिल्मों ने इस माध्यम को जन-साधारण के मनोरंजन के माध्यमों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण जगह हासिल कर लेने का अवसर दिया। लेनी रीफेन्स्टांही की शानदार कलात्मक अभिव्यक्ति इसका पर्याप्त प्रमाण है। मजे की बात यह है कि युद्ध के लिये किये गए उच्च तकनीकी विकास का असर सीधे सिनेमा के तकनीकी विकास पर पड़ा। सिनेमा निर्माण का काम जैसे-जैसे स्टूडियो की सरहदों से बाहर खुले इलाकों में होने लगा, स्टूडियो में रखे जाने वाले भारी कैमरों की जगह आसानी से ले जा सकने वाले छोटे तथा हल्के कैमरों तथा प्रकाश की जरूरत महसूस हुई। वास्तविकता का महत्व और बढ़ गया और युद्ध के बाद के सामाजिक-आर्थिक तथ्यों पर आधारित निर्माण शुरू हुआ, जिसे आधुनिक वास्तविकताओं की फिल्मों के रूप में पहचाना जाता है।

इस उपग्रह युग में महत्वपूर्ण घटनाओं को ध्वन्यांकित (रिकार्ड) करने की आवश्यकता को देखते हुये संभावनाओं की तलाश में कल्पना प्रक्रिया को और आधुनिक तथा नाजुक बना दिया, विशेषकर दृश्य-प्रकाश विज्ञान, फोटो रसायन और इलेक्ट्रोनिक्स के क्षेत्र में। हालांकि शुरू में इनका उपयोग उपग्रह कार्यक्रमों में विकास के बढ़ते कदमों को रिकार्ड करने के लिये किया जाता था, लेकिन इस दिशा में हुये अनुसंधानों को सिनेमा के लिये भी उपयोगी पाया गया। भूमिगत फिल्म निर्माताओं द्वारा अमरीका में की गई खोज ने सिनेमा कला की बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिये आदर्श प्रणाली और आवाज के संश्लेषण को एक नई दिशा प्रदान की।

टेलीविजन में नवीन तकनीकों के आविष्कार का सिनेमा तकनीक पर भी सीधा असर पड़ा।

आरंभिक चरणों के दौरान इलेक्ट्रॉनिक कैमरे से छवि या दृश्यों का पुनर्उत्पादन कुशलता के साथ करना संभव नहीं था, लेकिन यह सुविधा फिल्म कैमरों में उपलब्ध थी। शोधकर्ताओं ने इस दिशा में गंभीर और सार्थक प्रयास किये और अब इलेक्ट्रॉनिक कैमरा इस स्थिति में आ पहुंचा है कि वह रंगीन दृश्यों के पुनर्उत्पादन सहित अन्य सभी कार्य फिल्म कैमरे की तरह ही कर सकता है। शोधकार्य काफी तेजी से जारी हैं, और दृश्य तकनीक की कुशलता और सटीकता के मामले में टेलीविजन फिल्मों के मुकाबले तकनीकी विशेषता के अंतर को लगातार कम करता जा रहा है।

हालीयुड की काल्पनिक वैज्ञानिक फिल्मों की महान सफलता और रचनात्मक क्षेत्र के वैज्ञानिक मस्तिष्कों का अथक प्रयास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सिनेमा और दृश्य तकनीक का अस्तित्व साथ-साथ ही रहेगा। वह दिन ज्यादा दूर नहीं जब दोनों सांख्यिकी तकनीक में भी सटीक समरूपता बना सकेंगे। अभिप्राय यह है कि दृश्य और श्रव्य माध्यम में सर्वश्रेष्ठता हासिल करने के लिये सिनेमा और टेलीविजन दोनों माध्यमों के विशेषज्ञ प्रयासरत हैं। अमरीका में हुए औद्योगिकी विकास की चकाचौंध इस तरह की कई स्थापनाओं के लिये प्रेरणा का स्रोत बन गया है। अब बहुत से विशेषज्ञ कल्पनाशीलता की भविष्य की तकनीकों को लेकर भी चिंतित हैं।

सांख्यिकी तकनीक और छवि बनाने में कम्प्यूटर के भरपूर इस्तेमाल को देखते हुये दृश्य-श्रव्य माध्यमों में प्रयोग और गलतियों की पद्धति से सीखने की संभावनायें कम होती जा रही हैं। रचनात्मकता के लिये प्रयासरत वैज्ञानिक मस्तिष्कों के लिये यह बहुत बड़ी जरूरत है। इस सच्चाई पर अब किसी प्रश्न या शंका की गुंजाइश नहीं है कि सिनेमा और टेलीविजन का भविष्य अति प्रशिक्षित तकनीकी हाथों में ही सुरक्षित है।

मनोरंजन उद्योग में पिछले लगभग 100 वर्षों में विकास के बढ़ते कदमों की शायद ल्यूमियर या पोर्ट्रे जैसे लोगों ने कभी कल्पना

भी नहीं की होगी। बौल्शेविक कांति के तत्काल बाद मास्को में स्थापित पहले फिल्म प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना के दौरान इस तथ्य के बारे में सोचना भी कल्पना से बाहर होगा कि 52 देशों में आज 98 से अधिक ऐसे महत्वपूर्ण और भव्य फिल्म तथा टेलीविजन प्रशिक्षण केन्द्र काम कर रहे हैं। इनमें से अधिकतर संस्थानों की शुरुआत पहले फिल्म प्रशिक्षण संस्थान के रूप में हुई थी, लेकिन बाद में पूरी तरह प्रशिक्षित पेशेवर तैयार करने के लिये इन संस्थानों के पाठ्यक्रमों में टेलीविजन तकनीकों का अध्ययन भी जोड़ दिया गया।

पुणे में 1961 में शुरू किये गये भारतीय फिल्म और टेलीविजन प्रशिक्षण संस्थान ने इस दिशा में वर्तमान और भविष्य की चुनौतियों को देखते हुये अपने पाठ्यक्रमों में समय-समय पर संशोधन किया है। नई तकनीकें शामिल की गई हैं, पाठ्यक्रम के ढांचे को बदला गया है और छात्रों का ओर ज्यादा ध्यान रखा जाने लगा। इस बात की पक्की व्यवस्था की गई कि संस्थान से जो छात्र उत्तीर्ण होकर निकलें, वे आधुनिक कल्पनाशीलता की तकनीक में पारंगत, विश्वस्त और दक्ष हों। यहां इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि इन क्षेत्रों में प्रशिक्षण एक बहुत ही खर्चीली कला है।

सिनेमा और टेलीविजन के क्षेत्र में अधिक से अधिक प्रशिक्षित लोगों की आज बहुत आवश्यकता है। इस जरूरत को कुछ राज्यों ने भली-भांति समझा है, और यह जानना सुखद है कि भारत में दो और प्रशिक्षण संस्थान जल्दी ही खुलने वाले हैं। बंगलौर और कलकत्ता में शुरू होने वाले इन केन्द्रों के माध्यम से इस देश की जरूरतें पूरी हो सकेंगी। बहुत समय पहले 1944 में मद्रास में एक संस्थान की शुरुआत की गई थी, जो अब एक क्षेत्रीय केन्द्र बन चुका है, और मूलतः तमिलनाडु के छात्रों की जरूरतें पूरी कर रहा है। आशा है कि आने वाले समय में प्रशिक्षित पेशेवर छात्रों की बढ़ती हुई मांग को देखते हुए विभिन्न राज्यों में और प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये जायेंगे। ■

फिल्म संस्कृति और भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार

सुरेश छावरिया

भारतीय सिनेमा की समृद्ध विरासत का संरक्षण करना अपने आप में बहुत बड़ा काम है। भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार इस दिशा में सार्थक भूमिका निभा रहा है।

यह तो सब जानते हैं कि भारतीय फिल्म उद्योग को पिछले अनेक दशकों से विश्व का सबसे बड़ा फिल्म उद्योग होने का गौरव प्राप्त है। परंतु इस बात का बहुत कम लोगों को ज्ञान है कि भारत में फिल्म निर्माण की अत्यंत सशक्त परंपरा रही है जिसका सूत्रपात इस शताब्दी के प्रथम दशक के अंतिम वर्षों में ही हो गया था।

लुमियर फिल्में बम्बई में जुलाई 1896 में प्रदर्शित की गई थीं और इसके कुछ ही वर्षों बाद स्थायी और अस्थायी सिनेमाघरों के माध्यम से देश भर में सैकड़ों अमरीकी, यूरोपीय फिल्में दिखाई गईं।

परंतु कई राजनीतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारणों से भारत में स्वदेशी फिल्म उद्योग 1910 से पहले नहीं उभर सका। सच तो यह है कि अर्थव्यवस्था के आधुनिक क्षेत्रों में भारतीयों की भागीदारी का इतिहास इस सदी की शुरुआत में केवल दो दशक पुराना था और यह भागीदारी भी बहुत सीमित तथा प्रारम्भिक स्तर पर थी। इसीलिए कई शैक्षिया फिल्मकारों द्वारा वास्तविक स्थितियों को फिल्मों जाने के बावजूद, इस नए माध्यम को अपनाने वाले अधिकतर उद्यमियों ने शुरू-शुरू में विदेशों से आयातित तैयार फिल्मों के वितरण को ही बेहतर माना।

फिल्म के इस आयातित माध्यम के प्रति आकर्षण और देश में पनप रही राष्ट्रवाद की

चेतना तथा उपनिवेशवाद विरोधी भावना को सबसे पहले डी. जी. फाल्के ने पहचाना। उन्होंने 1910 से 1913 के दौरान चले स्वदेशी फिल्मों के प्रभाव की तुलना केवल उन आंदोलन के अंग के रूप में ही सोच-समझ कर भारतीय फिल्म उद्योग की नींव डाली। इसके बाद की घटनाएं इतिहास का हिस्सा हैं।

1931 में सवाक् फिल्मों के आने से पहले तक आयातित फिल्में ही बाक्स आफिस पर सफल होती थीं, किन्तु अन्य देशों की तरह भारतीय मूक फिल्मों ने अपनी अलग पहचान बना ली और अपना बहुत बड़ा दर्शक वर्ग तैयार कर लिया। ये फिल्में मुख्यतया भारतीय परिवेश तथा पौराणिक कथानकों पर आधारित होती थीं किन्तु पश्चिमी प्रभाव के कारण 1920 के दशक में अत्यंत लोकप्रिय सामाजिक और करतबों पर आधारित फिल्में बनने लगीं, जिनमें जांलाज नायक तथा सुन्दर नायिकाओं की भूमिका रहती थी।

आवाज स्टूडियों तथा फिल्म निर्माण के आर्थिक पहलुओं का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद भारतीय फिल्म उद्योग परवान चढ़ने लगा। दर्शकों में उन फिल्मों के प्रति आकर्षण और मोह बढ़ने लगा, जिनके गीत और संवाद उनकी किसी अपनी भाषा में होते थे। सच तो यह है कि भारतीय फिल्म उद्योग विदेशी नियंत्रण से मुक्त होने वाला संभवतः पहला फिल्म उद्योग था। हाँ, कच्ची फिल्मों तथा फिल्म निर्माण के काम आने वाले उपकरणों का आयात जारी रहा। उसके बाद से फिल्में

भारतीय जन-जीवन का अभिन्न अंग बन गई हैं। औसत भारतीय व्यक्ति के मानस पर फिल्मों के प्रभाव की तुलना केवल उन आंदोलन के अंग के रूप में ही सोच-समझ कर भारतीय फिल्म उद्योग की नींव डाली। इसके बाद की जा सकती है जो धार्मिक तथा लोक उत्सवों और दैनिक जीवन में पूरी तरह घुल-मिल चुके हैं।

इस लेख की शुरुआत भारतीय फिल्मों के इतिहास के प्रारम्भिक दशकों का सक्षिप्त व्यूहादेकर की गई है ताकि उन दो कठिनाइयों की ओर इशारा किया जा सके, जो फिल्म अभिलेखागार के संचालन में आज भी बाधक हैं।

पहली कठिनाई यह है कि हमारी फिल्मों की अधिकांश विरासत नष्ट हो गई है क्योंकि उनका निर्माण हमारे उपनिवेशवाद काल के अंतिम चरण में हुआ और अपना शासन न होने के कारण भारत ऐसी सुविधाओं की व्यवस्था नहीं कर पाया जो फिल्मों के संरक्षण के लिए आवश्यक थीं।

दूसरी बात यह है कि हालांकि भारतीय फिल्म उद्योग ने काफी मुनाफा कमाया और राष्ट्रीय विचारधारा के निर्माण में भरपूर योगदान किया किन्तु वह हीनभावना की सामान्य औपनिवेशक मनोदशा से ग्रस्त रहा और उसमें आत्मगौरव का भाव नहीं आ पाया। 1950 से पहले की इतनी अधिक फिल्में नष्ट होने देने के लिए इन दो कठिनाइयों के

अलावा कोई और कारण समझ में नहीं आता।

यह भी सच है कि नाइट्रेट डिक्स्पोज़ीशन मौसम का प्रभाव और विशुद्ध व्यापारिक दृष्टिकोण से काम करने वाले फिल्म निर्माताओं व प्रयोगशालाओं के कारण भी फिल्म विरासत इस तरह नष्ट हुई है। परंतु लेखक की दृष्टि में सबसे बड़े कारण हैं—1947 से पहले सरकारी और प्रशासनिक तंत्र पर नियंत्रण न होना और अपने सिनेमा के तकनीकी एवं कलात्मक स्तर के बारे में फिल्म उद्योग की हीन-भावना।

इसलिए 1964 में जब भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार की स्थापना की गई तो उसके सामने नव-स्वतंत्र राष्ट्र की सरकार द्वारा उपलब्ध कराए जा सकने वाले सीमित साधनों के माध्यम से भारतीय सिनेमा की उस आधारभूत सामग्री की रक्षा का कठिन कार्य था, जो तब तक बची हुई थी। इसके साथ-साथ उसे इन्हीं थोड़े-से साधनों के बल पर उस अंति लोकप्रिय और संपत्र फिल्म उद्योग की समकालीन और भावी फिल्में खरीदने तथा उन्हें सुरक्षित रखने का काम भी संभालना था, जो फिल्म विरासत के लुप्त होने के खतरों से एकदम बेखबर हैं।

1950 के दशक के मध्य में भारत सरकार ने रिकार्ड के लिए महत्वपूर्ण फिल्में प्राप्त करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय फिल्म लाइब्रेरी के रूप में इस संस्थान की योजना बनाई। परंतु तभी यह महसूस किया गया कि इस प्रकार की संस्था को केवल फिल्में संग्रह करने के केन्द्र के रूप में ही नहीं बल्कि उनका संरक्षण करने वाली एजेंसी के रूप में भी काम करना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय फिल्म लाइब्रेरी की अवधारणा पूर्ण फिल्म अभिलेखागार की अवधारणा में रूपान्तरित हो गई।

शुरू में यह अभिलेखागार पुणे में भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान के प्रांगण में छोटे-छोटे शेडों में अस्थायी वाल्ट लेकर घालू

किया गया परन्तु अब भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार अपने स्वरूप और अनुभव दोनों दृष्टियों से इतना परिपक्व हो गया है कि इसकी गिनती विश्व के प्रमुख फिल्म अभिलेखागारों में होती है और 1969 से यह फिल्म अभिलेखागारों के अंतर्राष्ट्रीय परिसंघ का पूर्ण सदस्य है। इसके अलावा इसने भारतीय सिनेमा के पहले पांच दशकों की अनेक मूल्यवान फिल्मों की हालत सुधारने और उन्हें सुरक्षित करने में सफलता प्राप्त की है। यह महत्वपूर्ण कार्य अभिलेखागार स्थापित करने की सरकार की पहल, इस संस्थान के संस्थापकों के कठोर परिश्रम और जे. बी. एच. वाडिया, बी. एन. सरकार तथा अन्य फिल्म निर्माताओं जैसे उन लोगों के सहयोग से संभव हुआ जिन्होंने फिल्मों के संरक्षण की आवश्यकता को समझते हुए अपनी व्यक्तिगत सामग्री अभिलेखागार को सौंप दी।

जनवरी, 1994 में अभिलेखागार अपने नए भवन में आ गया। इसमें फिल्म संरक्षण के अंतर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप तैयार किए गए वाल्ट, सभी सुविधाओं से सुसज्जित संरक्षण विभाग, पुस्तकों तथा पत्रिकाओं का विशाल पुस्तकालय और उनका कैटलॉग और सिनेमा, पोस्टरों, स्टिल चित्रों तथा अन्य संबंधित सामग्री से युक्त अनुसंधान एवं अभिलेख केन्द्र मौजूद हैं। अभिलेखागार में अब अपना आडिटोरियम भी है, जिसमें वह लोगों को अपने संग्रह की फिल्में दिखा सकता है।

भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार की मूल्यवान सामग्री में दादा साहेब फाल्के की फिल्मों के कुछ अंश, हिमांशु राय और फ्रांज ओस्टेन की मूक फिल्में, 1930 तथा 1940 के दशकों की प्रभात फिल्म कम्पनी, न्यू थियेटर्स, बास्बे टाकीज, मिनर्वा मूवीटोन, वाडिया मूवीटोन, जैमिनी जैसी महान फिल्म कंपनियों की कुछ प्रतिनिधि फिल्में शामिल हैं। अभिलेखागार में उन कंपनियों की फिल्में भी मौजूद हैं, जिनका गठन 1940 के दशक के अंतिम वर्षों में स्टूडियो प्रणाली की समाप्ति

के बाद महबूब खान, राजकपूर, गुरुदत्त, ए. आर. कारदार, एल. बी. प्रसाद तथा बी. नार्गी रेडी जैसे फिल्मकारों ने किया था। मुख्यधारा सिनेमा के साथ-साथ नव सिनेमा के महत्वपूर्ण फिल्मकारों जैसे कि सत्यजित राय, मृणाल सेन, ऋत्विक घटक, अंगूर गोपालकृष्णन, मणि कौल, श्याम बेनेगल तथा अन्यों की फिल्में भी सुरक्षित हैं।

अभिलेखागार में फिल्मों की सहायक सामग्री का भी विशाल भण्डार है। इनमें सिनेमा के प्रत्येक युग से संबंधित पोस्टर, स्टिल, चित्र, गानों की किताबें, फोल्डर, डिस्क रिकार्ड और आडियो कैसेट शामिल हैं। परन्तु धन और कर्मचारियों की कमी के कारण ये मूल पटकथाएं, सेट, वेशभूषा तथा अन्य प्राचीन कलात्मक वस्तु और सिनेमा पूर्व उपकरण प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। उदाहरण के लिए सिनेमा-पूर्व उपकरण के रूप में अभिलेखागार में केवल पटवर्द्धन ब्रांस का जादुई चिराग और हाथ से पेंट की गई स्लाइडें ही मौजूद हैं। अभिलेखागार की योजना है कि जयकर बंगले में अपने पुराने परिसर में वह भारतीय सिनेमा का संग्रहालय बनाएगा।

सामग्री प्राप्त करने की नीति

भारत में हर साल 850 से अधिक फीचर फिल्में और लगभग इतनी ही लघु फिल्में, संमाचार चित्र तथा वृत्त चित्र बनते हैं, इसलिए अभिलेखागार इनमें से कुछ फिल्में ही खरीद सकता है। इसके अलावा कानूनी तौर पर, फिल्में अभिलेखागार में जमा कराने की कोई व्यवस्था नहीं है और धन की भी कमी है। इन सभी पहलुओं के फलस्वरूप देश में निर्मित कुल फिल्मों में से केवल 10 प्रतिशत फिल्मों का ही संरक्षण हो प्राप्त है।

फिल्में प्राप्त करने की कसौटी अभिलेखागार की सलाहकार समिति द्वारा निर्धारित की गई है, जो इस प्रकार है : पहली कसौटी यह है कि अभिलेखागार को 1955 से पहले की सभी उपलब्ध भारतीय फिल्में प्राप्त करनी चाहिए,

(शेष पृष्ठ 60 पर)

सिनेमा का समाज पर प्रभाव : एक अध्ययन दिल्ली महानगर में

डॉ सविता भाखड़ी

दिल्ली में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार सिनेमा समाज में अपने दर्शकों

को तनाव से मुक्ति दिला कर और साथ ही मनोरंजन उपलब्ध कराकर जहाँ
एक सकारात्मक भूमिका अदा करता है, वहाँ यह वास्तविकता से दूर स्वप्निल
संसार की ओर भी ले जाता है और सामाजिक तथा सैक्स से सम्बन्धित हिंसा
और अपराध को बढ़ावा देकर नकारात्मक भूमिका निभाता है, लेखिका ने एक
बृहद् सर्वेक्षण के आधार पर यह राय प्रकट की है।

जैसा कि हम जानते हैं, सिनेमा हमारे समय का आज सबसे महत्वपूर्ण और शक्तिशाली संस्थान है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसने हमारे रोजमर्रा के सामाजिक जीवन में एक अनोखी जगह बना ली है। अपने अस्तित्व की लगभग एक शताब्दी में इसने काम, आशा, निराशा, त्याग और कुटिलता की विविधता से भरा एक ऐसा बवंडर खड़ा किया है जिसमें मानव जीवन की सभी अचाइयां व बुराइयां समाई हुई हैं, और इन्हीं पर आधारित फिल्में आज बन रही हैं। इसका जन्म इतना अस्थिर था कि उस पर शोयद ही ध्यान दिया गया हो। इसका भविष्य तेजी से परिवर्तित हो रही संचार प्रणाली के कारण आज भी अनिश्चित है। इस परिवर्तनशील संचार प्रणाली में जो भी दिखाया या देखा जा रहा है उसमें अधिकांश फिल्में या उन पर आधारित कार्यक्रम हैं, साथ ही पूरे विश्व में दूर-दूर तक फैली विविध संस्कृतियों के लोगों पर इनका प्रभाव पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में इसके वास्तविक महत्व के बारे में कुछ निश्चित होकर कह पाना सचमुच धोड़ा मुश्किल है।

इस लेख में समाज में हिन्दी सिनेमा का सकारात्मक भूमिका का पता लगाने का प्रयास किया गया है जिसके अन्तर्गत सिनेमा कितना मनोरंजन, ज्ञान और सूचनाओं को बढ़ाता है,

समाज के ज्यलंत मुद्दों पर लोगों को किस तरह जागृत करता है या सामाजिकता अद्यवा दर्शकों को किस सीमा तक तनाव मुक्त करता है, इस पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही साथ इसमें समाज पर सिनेमा के पड़ने वाले निम्नलिखित नकारात्मक असर की भी जाच का प्रयत्न किया गया है, जैसे गलत मूल्यों की शिक्षा देना; सैक्स, सामाजिक हिंसा और अपराध को बढ़ावा देना; जिंदगी की हकीकत और समस्याओं से दूर स्वप्निल संसार की ओर ले जाना; विश्वसक भूमिका, वाले आदर्शों को बढ़ावा देना; स्थापित सामाजिक मान्यताओं या परंपराओं के विरोध को बढ़ावा देना आदि। इसके अलावा यह आलेख सिनेमा द्वारा परिवार से संबंधित सामाजिक पहलुओं, धर्म, धर्म निरपेक्षता, महिलाओं और पुरुषों पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण भी करेगा।

सिनेमा के समाज पर पड़ने वाले असर का अनुमान लगाने के लिये 300 सिनेमा दर्शकों की राय का परीक्षण किया गया है, ताकि दिल्ली में सिनेमा उद्योग की हालत पर गहराई से जानकारी मिल सके। सिनेमा देखने वाले इन दर्शकों के चयन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि महिला और पुरुष, विभिन्न आयु वर्ग और अलग-अलग सामाजिक

तथा आर्थिक हैसियत के लोगोंको बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व मिले। आयु वर्ग में तीन समूह-21 से 35 वर्ष, 36 से 50 और 51 वर्ष से अधिक बनाये गये। इसमें युवावस्था, अधेड़ावस्था और वृद्धावस्था जीवन की सभी बोधगम्य और महत्वपूर्ण अवस्थाओं को स्थान दिया गया। इसी तरह व्यवसाय के आधार पर तीन श्रेणियां—पेशेवर वर्ग, व्यवसायी वर्ग और कामकाजी वर्ग बनाई गई। इनमें से प्रत्येक 21 से 35, 35 से 50 और 51 वर्ष से अधिक आयु वर्ग में से 100 लोग (50 पुरुष, 50 महिलायें) चुने गये। वर्तमान विश्लेषण में उत्तरदाताओं से जानने के लिये प्रश्नावलियों के सात समूह बनाये गये। हम यहाँ एक के बाद एक प्रश्न को लेंगे, अलग-अलग उनके विश्लेषण का प्रयत्न करेंगे और बाद में देखेंगे कि लोगों की आम राय क्या है।

सकारात्मक पहलू

जैसा कि इस आलेख के आरंभ में ही कहा गया है, और तालिका-1 से स्पष्ट है कि सभी उत्तरदाताओं से यह पूछा गया है कि सिनेमा मनोरंजन प्रदान करने, ज्ञान और सूचना में वृद्धि करने, समाज के महत्वपूर्ण मुद्दों पर लोगों को जागृत करने तथा सामाजिकता और भावोन्नयन में किस तरह सकारात्मक भूमिका अदा करता है।

सिनेमा की समाज में भूमिका : सकारात्मक पहलू

तालिका-1

क्र. समाज में सिनेमा की भूमिका	बहुत अधिक	अधिक	कम	कुल योग
1. मनोरंजन प्रदान करता है	104 (34.7)	97 (32.3)	99 (33.0)	300 (100.0)
2. सूचना और ज्ञान को बढ़ाता है	38 (12.7)	103 (34.3)	159 (53.0)	300 (100.0)
3. समाज को ज्वलंत मुद्दों पर जागृत करता है	67 (22.3)	129 (43.0)	104 (34.7)	300 (100.0)
4. सामाजिकता पैदा करता है	51 (17.0)	86 (28.7)	163 (54.3)	300 (100.0)
5. तनाव मुक्त करता है	106 (33.3)	135 (45.0)	59 (19.7)	300 (100.0)

टिप्पणी - कोष्ठक के अंदर दिये गये आंकड़े प्रतिशत को दर्शाते हैं।

सर्वाधिक उत्तरदाताओं (35.3 प्रतिशत) ने यह विचार प्रकट किया है कि यह भावोत्रयन में सहायक है। यह लोगों को उन तनावों से मुक्ति दिलाता है जो परिवार में या कार्यस्थल पर अक्सर होते हैं। इसके बाद 34.7 प्रतिशत लोगों का दावा था कि सिनेमा मनोरंजन प्रदान करता है।

यदि सबसे अधिक और अधिक को मिला दिया जाये तो सिनेमा द्वारा भावोत्रयन का प्रतिशत बढ़कर 80 हो जायेगा। मनोरंजन के पहलू के समर्थन में 67.0 प्रतिशत, ज्ञान और सूचना के विकास को 47.0 प्रतिशत और महत्वपूर्ण मुद्दों पर जागृति पैदा करने के पहलू को 65.3 प्रतिशत तथा सामाजिकता के पहलू का 45.7 प्रतिशत लोगों ने समर्थन किया।

यहां इस तथ्य पर ध्युन देने की आवश्यकता है कि मनोरंजन को अधिक महत्व, नहीं दिया गया बल्कि सिनेमा द्वारा तनाव मुक्ति, भावोत्रयन को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया। यह भारतीय समाज की तनावमुक्ति क्षिति का भी आकलन हो सकती है। जो आज जाति प्रणाली, वर्ग प्रणाली, पारिवारिक जीवन, औद्योगिक संबंध और राजनैतिक ढांचे

में आ रहे अनगिनत सामाजिक परिवर्तनों को झेल रहा है। वर्तमान में यह सभी विषम परिस्थितियों में पहुंच गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

सिनेमा उद्योग इस तथ्य के आधार पर प्रशंसा का हकदार है कि वह समाज में जाति, वर्ग और संपत्ति के नाम पर अलग अस्तित्व जैसे मुद्दों पर आम लोगों को जागरूक करता है।

सिनेमा उद्योग इस तथ्य के आधार पर प्रशंसा का हकदार है कि वह समाज में जाति, वर्ग और संपत्ति के नाम पर अलग अस्तित्व जैसे मुद्दों पर आम लोगों को जागरूक करता है।

लोकप्रिय हिन्दी फिल्मों का मूल या उसकी अवधारणा पारिवारिक मूल्यों और बड़े परिवारों के इदंगिर्द होती है। पारिवारिक रिश्ते इतने मजबूत होते हैं कि उनमें दरार से मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है।

जैसे मुद्दों पर आम लोगों को जागरूक बनाता है। ऐसा 65.3 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने महसूस किया है।

नकारात्मक पहलू

उत्तरदाताओं ने बड़ी संख्या में यह विचार व्यक्त किये कि सिनेमा सामाजिक और सैक्षम से संबंधित हिंसा और अपराध को बढ़ावा देकर समाज में नकारात्मक भूमिका अदा कर रहा है। लगभग 70 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह महसूस किया कि सिनेमा की यह नकारात्मक भूमिका प्रबल है। यदि हम सिर्फ ऐसे विचारों को लें जिनमें इसकी भूमिका बहुत ज्यादा नहीं सिर्फ ज्यादा महसूस की गई है तो कुल उत्तरदाताओं का प्रतिशत 88.7 तक पहुंच जाता है। यही शायद इस विश्लेषण की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

पारिवारिक संबंध

सूची तीन के प्रश्न समूहों के अधिकतर उत्तरदाताओं ने यह विचार व्यक्त किये हैं कि सिनेमा देखने से पारिवारिक संबंधों में मजबूती आई है। यहां फिर उन लोगों की राय के प्रतिशत को मिला लेना उपयोगी होगा जिन्होंने इसे पारिवारिक संबंधों में मजबूती के लिये बहुत अधिक और सिर्फ अधिक जिम्मेदार माना है।

सिनेमा पारिवारिक संबंधों को किस हद तक प्रभावित करता है उत्तरदाताओं के विचार तालिका 3 में दिए गए हैं।

۱۴۰۴۵ میلادی تاریخ ۲۷ فروردین ۱۳۹۶

۱۴۰۴۶ میلادی تاریخ ۲۸ فروردین ۱۳۹۶

۱۴۰۴۷ میلادی تاریخ ۲۹ فروردین ۱۳۹۶

۱۴۰۴۸ میلادی تاریخ ۳۰ فروردین ۱۳۹۶

۱۴۰۴۹ میلادی تاریخ ۳۱ فروردین ۱۳۹۶

፩. የቅርብ አገልግሎት	፪. ተቋማውን አገልግሎት	፫. የቅርቡ አገልግሎት	፬. የቅርቡ ማስታወሻ	፭. የቅርቡ ማስታወሻ	፮. የቅርቡ ማስታወሻ	፯. የቅርቡ ማስታወሻ	፱. የቅርቡ ማስታወሻ	፲. የቅርቡ ማስታወሻ	፳. የቅርቡ ማስታወሻ	፴. የቅርቡ ማስታወሻ	፵. የቅርቡ ማስታወሻ	፶. የቅርቡ ማስታወሻ	፷. የቅርቡ ማስታወሻ	፸. የቅርቡ ማስታወሻ	፹. የቅርቡ ማስታወሻ	፻. የቅርቡ ማስታወሻ	፻፻. የቅርቡ ማስታወሻ		
50	134	113	3	300	(16.7)	(44.6)	(37.7)	(1.0)	(100.0)	50	117	132	1	300	(16.7)	(39.0)	(44.0)	(0.3)	(100.0)
50	117	132	1	300	(16.7)	(44.6)	(37.7)	(1.0)	(100.0)	50	117	132	1	300	(16.7)	(39.0)	(44.0)	(0.3)	(100.0)
76	121	103	0	300	(16.7)	(39.0)	(44.0)	(0.3)	(100.0)	76	121	103	0	300	(25.4)	(40.3)	(34.3)	(0.0)	(100.0)
38	101	160	1	300	(12.7)	(33.7)	(53.3)	(0.3)	(100.0)	38	101	160	1	300	(12.7)	(33.7)	(53.3)	(0.3)	(100.0)

دالل دالل

କାନ୍ତିକ କାନ୍ତିକ କାନ୍ତିକ କାନ୍ତିକ କାନ୍ତିକ : କାନ୍ତିକ

፩.	ፌዴራል ቅዱስ የትምህር ስነዎች								
1.	300	42	108	150	(50.0)	(36.0)	(14.0)	(100.0)	2.
2.	300	34	56	210	(70.0)	(18.7)	(11.3)	(100.0)	3.
3.	300	65	91	135	(66.6)	(21.7)	(11.7)	(100.0)	4.
4.	300	74	91	135	(45.0)	(30.3)	(24.7)	(100.0)	5.
5.	300	93	90	177	(35.0)	(30.0)	(31.0)	(100.0)	

ମୁଦ୍ରାକ୍ଷର-୨

ପାତ୍ର କାହାରଙ୍କୁ : ଯାହିଁକି କିମ୍ବାନେ ଯେ ଲାଗିଥାଏ

परिवारिक ढांचा

तालिका चार दर्शाती है कि 48.7 प्रतिशत उत्तरदाता अनुभव करते हैं कि सिनेमा देखने से संयुक्त परिवारों के संबंध सशक्त होते हैं। 42 प्रतिशत लोग महसूस करते हैं कि यह छोटे परिवारों की अवधारणा ल्ये बढ़ावा देता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लोकप्रिय हिन्दी फिल्मों का मूल या उसकी अवधारणा परिवारिक मूल्यों और बड़े परिवारों के इर्द-गिर्द होती है। परिवारिक रिश्ते इन्हें मजबूत होते हैं कि उनमें दरार से मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। विवाह के बाद उसमें अपने माता-पिता के साथ रहने वाले भाइयों पर एक साथ संतति की ईमानदारी और भाइयों में एकता की दो जिम्मेदारियां होती हैं।

परिवारिक ढांचे के प्रकारों को सिनेमा किस तरह बढ़ावा देता है, उत्तरदाताओं के विचार :

सामाजिक मूल्य

तालिका - 5 से ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान के भाग चार ए (नागरिकों के मौलिक

परिवारिक ढांचे पर प्रभाव

तालिका-4

क्रमांक	परिवारिक ढांचा जिसे सिनेमा बढ़ावा देता है	संख्या
1.	संयुक्त परिवार को मजबूत बनाता है	146 (48.7)
2.	छोटे परिवारों को बढ़ावा देता है	126 (42.0)
3.	नहीं जानते	28 (9.3)
4.	कुल योग	300 (100.0)

टिप्पणी - कोष्ठक में दिये गये आंकड़े प्रतिशत को दर्शाते हैं।

कर्तव्य) से बहुत दूर सिनेमा लोगों के जीवन को सही दिशा देने के स्थान पर पूर्वाग्रह से ग्रसित जिंदगी को निर्लज्जता से लोकप्रिय बना रहा है। इस तरह संविधान की अवधारणा के विपरीत सिनेमा वैज्ञानिक भावनाओं को मजबूत बनाना चाहता है, लोकप्रिय किवदंतियों को स्थापित करना और सामाजिक रुदियों को महत्व देना चाहता है। इसके विपरीत यह देखा जा सकता है कि लगभग 58.3 प्रतिशत लोग

यह विश्वास करते हैं कि सिनेमा सांप्रदायिक सद्भाव को मजबूत बनाता है, और साठ प्रतिशत का मानना है कि यह धर्म निरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा देता है। यदि फिल्म निर्माता सी. वी. रमन और विक्रम साराभाई जैसे वैज्ञानिकों के जीवन पर ज्यादा ध्यान दें तथा पौराणिक कथाओं के मूल्यों को अधिक महत्व न दें तो यह संविधान की इच्छा के अनुरूप ही होगा।

सिनेमा दूसरे सामाजिक मूल्यों को किस हद तक प्रभावित करता है, उत्तरदाताओं के विचार

तालिका-5

क्र. दूसरे सामाजिक मूल्य जिन्हें सं. सिनेमा बढ़ावा देता है	बहुत अधिक	अधिक	कम	योग
1. पारंपरिक धार्मिक भावनाओं को मजबूत बनाता है	86 (28.7)	87 (32.3)	117 (39.0)	300 (100.0)
2. लोकप्रिय पौराणिक कथाओं को स्थिरता देता है	90 (30.0)	89 (29.7)	121 (40.3)	300 (100.0)
3. रुदिवादिता को बढ़ावा देता है	140 (46.7)	86 (28.7)	74 (24.6)	300 (100.0)
4. सांप्रदायिक सद्भाव को मजबूत बनाता है	75 (25.0)	100 (33.3)	125 (42.7)	300 (100.0)
5. धर्म निरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा देता है।	82 (27.3)	98 (32.7)	120 (40.0)	300 (100.0)

टिप्पणी— कोष्ठक में दिए गए आंकड़े प्रतिशत को दर्शाते हैं।

महिलाओं के प्रति व्यवहार

सकारात्मक शब्द का उपयोग सूची 6 में किया गया है। आम लोगों की राय में नारी की जो सकारात्मक छवि है वह उस छवि से बिल्कुल भिन्न है जिसका महिला समाज की नेता पूरे विश्व में प्रचार कर रही हैं। एक सकारात्मक छवि का साधारणतः अभिप्राय कुशल पालक, विनीत, त्याग करने वाली, आज्ञाकारी, ईमानदार, संवेदनशील तथा अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाली महिला से होता है। मानव स्वभाव के ज्यादा सकारात्मक गुण जैसे विचार शक्ति, पांडित्य और सफलता को पुरुषों से संबंध माना जाता है। इन मानकों

को देखते हुये लगभग 54 प्रतिशत उत्तरदाताओं का विचार था कि सिनेमा नारी की नकारात्मक छवि को बहुत दूर तक प्रभावित करता है। स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है कि भारतीय महिलाओं के यह घिसे-पिटे आदर्श पुरुष प्रधान समाज और मध्यम वर्ग के लोगों के विचारों में झलकते हैं। इसे देखते हुये 48.7 प्रतिशत और 47 प्रतिशत लोग यह अनुभव करते हैं कि सिनेमा महिलाओं के समाज में स्थान और उनकी भूमिका को बहुत ज्यादा प्रभावित करता है। महिलाओं की स्थिति और भूमिका पुरुषों की तुलना में कम महत्वपूर्ण मानी जाती है, और उनकी उन्हीं भूमिकाओं

को अब तक जनसमर्थन या वैधता मिलती रही है जो पुरुषों के सहायक सामाजिक रिश्तों जैसे मां, बहन और पत्नी की हो।

इसी तरह 55.3 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना था कि सिनेमा महिलाओं के सकारात्मक सैक्स मूल्यों को बहुत ज्यादा प्रभावित करता है। यह कह सकते हैं कि सैक्स से संबंधित महिला मूल्य उसे अपर्ण करने वाले पुरुष पर ही निर्भर करते हैं। किसी मामले में यदि महिला किसी पुरुष के सामने सैक्स की इच्छा प्रकट करे तो उस पर दुष्वरित्र महिला का ठप्पा लगा दिया जाता है।

सिनेमा समाज में नारी के प्रति आम लोगों के व्यवहार को किस तरह प्रभावित करता है, उत्तरदाताओं के विचार

तालिका-6

क्र. सिनेमा महिलाओं के प्रति सं. लोगों के व्यवहार को कितना प्रभावित करता है	बहुत अधिक	अधिक	कम	योग
1. समाज में उनकी सकारात्मक छवि	162 (54.0)	83 (27.7)	55 (18.3)	300 (100.0)
2. समाज में उनकी सकारात्मक स्थिति	146 (48.7)	87 (29.0)	67 (22.3)	300 (100.0)
3. समाज में उनकी सकारात्मक भूमिका	141 (47.0)	95 (31.7)	64 (21.3)	300 (100.0)
4. समाज में उनके सकारात्मक सैक्स मूल्यों को	166 (55.3)	81 (27.0)	53 (17.7)	300 (100.0)

टिप्पणी :— कोष्ठक में दिये गये आंकड़े प्रतिशत को दर्शाते हैं।

सिनेमा पुरुषों के प्रति दर्शकों के व्यवहार को किस तरह प्रभावित करता है, इस संबंध में उत्तरदाताओं के विचार रोचक और शिक्षाप्रद हैं, हम पाते हैं कि यदि अधिक और बहुत अधिक वाले विचारों को मिला दिया जाये तो 91.4 प्रतिशत लोग यह सोचते हैं कि सिनेमा पुरुषों की प्रधानता वाली छवि को बढ़ा-चढ़ा कर प्रभावित करता है। 83.7 प्रतिशत लोगों का विश्वास है कि समाज में पुरुषों की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति को दर्शाया जाता है। लगभग 82 प्रतिशत लोग मानते हैं कि पुरुषों की समाज में अधिकारपूर्ण भूमिका का ही चित्रण किया जाता है और 81.3 प्रतिशत लोगों के

विचार हैं कि पुरुषों की समाज में सैक्स संबंधी मामलों में प्रधानता की सिनेमा के माध्यम से स्थापित किया जाता है। इन आंकड़ों को देखते हुये यह बहस कर पाना मुश्किल है कि सिनेमा हमारे समाज के लोगों में पुरुष प्रधानता के मूल्यों की भावना को दूर करने में किस तरह सकारात्मक भूमिका निभा रहा है।

निष्कर्ष

आम लोगों की एक बड़ी संख्या का यह विचार है कि सिनेमा भावोन्नयन कर समाज में सकारात्मक भूमिका निभा रहा है, कहने का अभिप्राय है कि यह उन तनावों से मुक्ति

दिलाने में सहायक है जो उसे रोजमर्रा की जिंदगी में झेलने पड़ते हैं, चाहे वह परिवार हो या कार्यस्थल। यह भारतीय समाज की उस तनावपूर्ण स्थिति का भी आंकलन हो सकता है, जो आज जाति प्रणाली, वर्ग प्रणाली, पारिवारिक जीवन, औद्योगिक संबंध और राजनैतिक ढाँचे में आ रहे अनगिनत सामाजिक परिवर्तनों को झेल रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में ये सभी विषम परिस्थितियों के दौर में पहुंच चुके हैं। सिनेमा दर्शकों की राय में भावोन्नयन या तनावमुक्ति के बाद मनोरंजन को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान

सिनेमा समाज में आम लोगों के पुरुषों के प्रति व्यवहार को किस तरह प्रभावित करता है, उत्तरदाताओं के विचार

तालिका-7

क्र. सिनेमा पुरुषों के प्रति आम लोगों को कैसे प्रभावित करता है	बहुत ज्यादा	ज्यादा	कम	योग
1. समाज में उनकी उल्कृष्ट छवि प्रस्तुत करता है	209 (69.7)	65 (21.7)	26 (8.6)	300 (100.0)
2. समाज में उनकी प्रभुता की स्थिति दर्शाता है	187 (62.3)	64 (21.4)	49 (16.3)	300 (100.0)
3. समाज में उनकी अधिकारपूर्ण स्थिति का चित्रण	191 (63.7)	55 (18.3)	54 (18.0)	300 (100.0)
4. समाज में सैक्स मामलों में उनकी बेहतर स्थिति दर्शाता है	189 (63.0)	55 (18.3)	56 (18.7)	300 (100.0)

टिप्पणी :— कोष्ठक में दिये गये आंकड़े प्रतिशत को दर्शाते हैं।

प्राप्त है।

इसी तरह एक बड़ी जनसंख्या का मानना है कि सिनेमा समाज में सामाजिक और सैक्स संबंधी हिंसा तथा अपराध को बढ़ावा देकर नकारात्मक भूमिका अदा कर रहा है। लगभग इतने ही लोग सिनेमा पर यह आरोप लगाते

हैं कि यह जीवन की समस्याओं को झेलने और जिंदगी की वास्तविकता का सामना करने की बजाय लोगों को स्वप्निल संसार की ओर ले जा रहा है।

बहुत से लोगों का मानना है कि सिनेमा की समाज में पहली और एकमात्र भूमिका

लोगों को मनोरंजन उपलब्ध कराने की होनी चाहिये, लेकिन एक वर्ग ऐसा भी है जिसका मानना है कि शिक्षाप्रद होना चाहिए, जबकि तीसरे वर्ग के अनुसार सिनेमा को सकारात्मक मूल्यों की शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। ■

(पृष्ठ 36 का शेष)

फिल्म निर्माण में फिर से जुटे तो एन. एफ. डी. सी. ने 'गणशत्रु' बनाने में उनकी मदद की। सर्वश्रेष्ठ मानवीय रचना के रूप में विश्व सिनेमा के इतिहास में स्थायी स्थान बनाने वाली 'पाथेर पंचाली' के निर्माता के लिए यह सिनेमेटिक पुरुजन्म था। वास्तव में यदि पश्चिम बंगाल सरकार ने संडक निर्माण के लिए अपने बजट में से धन उपलब्ध नहीं कराया होता तो 'पाथेर पांचाली' ने आर्कलैम्प की रोशनी नहीं देखी होती। इस फिल्म ने भारत को विश्व सिनेमा के मानचित्र पर स्थान दिलाया और अपने निर्माता को मान-सम्मान दिलाया जिसमें ब्रिटेन का 'ओनोरिस काजा' और फ्रांस का 'लेजिओन ऑफ ऑनर' शामिल हैं। राय को जीवन भर की उपलब्धि के लिए संयुक्त राज्य अमरीका का ऑस्कर

पुरस्कार मिला। इसके अतिरिक्त वे देशों के सर्वोच्च नागरिक सम्मान "भारत-रत्न" से सम्मानित हुए।

यह प्रमाणित है कि कभी-कभी आर्थिक रूप से पिछड़े समाज में भी कला के विकास, या यहीं नहीं सिनेमा जैसी विलासिता पर राजकीय कोष से खर्च सदुपयोग होता है। ■

(पृष्ठ 40 का शेष)

लोकप्रिय सिनेमा कालचक्र का एक रंगीन दर्पण है, जिसमें जिंदगी के कोलाहल और उतार-चढ़ाव के रंग भरे हुये हैं। यह रंग गहरे हो सकते हैं, नाटकीय और कई बार अवास्तविक भी, लेकिन फिर भी यह आम लोगों के लिए एक मुख्य भोजन के समान है। ■

सूचना

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 'योजना' (हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में), 'आजकल' (हिन्दी-उर्दू), 'कुरुक्षेत्र' (हिन्दी) के पुराने अंक कार्यालय में उपलब्ध हैं, जो पाठक भंगाना चाहें, वे निम्न पते पर सम्पर्क करें :

व्यापार व्यवस्थापक,

प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,

भारत सरकार, पुराना सचिवालय,

दिल्ली-110 006

फिल्म निर्माण मिथक और वास्तविकता

बी. बी. नागपाल

भारतीय फिल्म उद्योग को आमतौर पर ग्लैमर, चमक-दमक, धन प्राप्ति का साधन, रोमांस और सहज जीवन के रूप में दर्शाया जाता रहा है। लेखक का कहना है कि वास्तविकता इससे अलग और इससे आगे कुछ और भी है।

सिनेमा के उद्भव और विकास प्रक्रिया की

एक शताब्दी पूरी हो चुकी है और एक विकासशील देश होते हुए भी भारत ने फिल्मों के निर्माण में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान यद्यपि फिल्मों के गिरते स्तर के कुछ कारण रहे हैं लेकिन फिर भी देश में इस समय विभिन्न भाषाओं में हर वर्ष 800 से भी अधिक फिल्में बनती हैं। अस्सी के दशक के मध्य में भारतीय सिनेमा अपने शीर्षस्थ स्थान पर पहुंच गया था लेकिन इसी समय टेलीविजन के विस्तार, केबल क्रांति और सेटेलाइट चैनल प्रतियोगिता के कारण वीडियो कैसेट का दौर आ गया।

वर्ष 1985 में 912 फिल्मों का निर्माण हुआ और भारतीय सिनेमा ने नई ऊँचाइयों को छुतिया जबकि इसकी तुलना में 1980 में 742, 1982 में 763 और 1984 में 833 नई फिल्में बनाई गई थीं। लेकिन 1985 के बाद इसमें कमी आनी प्रारम्भ हुई।

देश में सेटेलाइट क्रांति से कुछ पहले 1990 में भारत में सर्वाधिक 948 फीचर फिल्में बनीं। सन् 1991 में इनकी संख्या घटकर 910 और 1992 में 836 रह गई। 1993 में 812 और 1994 में 755 फिल्मों का निर्माण हुआ। चालू वित्त वर्ष में एक जनवरी से 31 मार्च तक की अवधि में केवल 179 फिल्मों का निर्माण हुआ जो तीन महीनों के दौरान बनाई गई फिल्मों की बहुत कम संख्या है।

इसके बावजूद फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में कोई नाटकीय कमी नहीं आने वाली है, क्योंकि फिल्म निर्माण के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को इस माध्यम से लगाव है। वे भारी करों के बोझ और कम दर्शकों जैसी समस्याओं सहित अन्य कठिनाइयों के बावजूद फिल्म-निर्माण में लगे रहेंगे।

यद्यपि भारत में सिनेमा का आविर्भाव उस समय से हुआ जब 1896 में लुमियर भाइयों ने अपना शो बम्बई के वासन होटल में किया, इससे सात माह पूर्व उन्होंने अपना पहला शो पेरिस में किया था, तथापि आमतौर पर वर्ष 1913 से भारतीय सिनेमा का आरंभ माना जाता है क्योंकि इसी वर्ष में देश में पहली भारतीय फिल्म बनी थी “राजा हरिश्चन्द्र”。 इसका निर्माण दादा साहेब फाल्के ने किया था, जिन्हें हम भारतीय सिनेमा के जनक के रूप में जानते हैं।

इसके बाद भारतीय सिनेमा निरंतर आगे बढ़ता रहा। सन् 1931 में आदेशिर ईरानी ने पहली बोलती फिल्म “आलम आरा” बनाई और तब सिनेमा वास्तविक रूप से आम आदमी के मनोरंजन का साधन बना।

भारतीय सिनेमा, मिथक से स्वप्निल चित्रों, पारिवारिक ड्रामा से रोमांस और पारंपरिक सिनेमा से वास्तविक जीवन से जुड़े सिनेमा की कड़ी में विभिन्न चरणों से गुजरता हुआ यहां तक पहुंचा है। स्वतन्त्रता से पूर्व अंग्रेजों की

नीतियों के खिलाफ भारतीय जन-मानस को जागृत करने के लिए उक्त विषयों को फिल्मों का माध्यम बनाया जाता था।

एकता की भूमिका

भारतीय फिल्म उद्योग के सपनों के सौदागरों ने वर्ग, जाति, समुदाय तथा भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके एक लम्बा रास्ता तय किया और राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय फिल्में आमतौर पर सभी वर्गों, राज्यों और क्षेत्रों के लोगों को एकजुट करने का सशक्त माध्यम रही हैं। फिल्मों ने दर्शकों के सामने समझाव की अभिव्यक्ति की है। दर्शक चाहे किसी भी स्थान का हो उसके सुख-दुख और अङ्गचनें लगभग एक सी होती हैं। फिल्मों की यह अभिव्यक्ति उन्हें एकाकार कर देती है। विभिन्न फिल्मी माध्यमों, पत्रिकाओं, वीडियो और टेलीविजन फिल्मों में फिल्म उद्योग को चमक-दमक, ग्लैमर और धन-धन्य से पूर्ण दर्शाया गया है जबकि वास्तविकता इससे प्रेर है, लेकिन कुछ मामलों में यह सत्य भी है।

भारी पूँजी निवेश

काफी पुराने अनुमान के अनुसार इस उद्योग में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से लगभग 6 लाख लोग जुड़े हुए हैं। इनमें से एक बड़ा वर्ग वितरण और स्टूडियो के काम में लगा है। भारतीय फिल्म उद्योग की आर्थिक रूपरेखा में

सिनेमा के क्षेत्र में कई विशेषताओं के कारण
भारत का नाम गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में दर्ज किया गया है। वर्ष में सबसे अधिक फिल्म-निर्माण, जगदीश राज द्वारा पुलिस अधिकारी की सर्वाधिक भूमिकाएं अभिनीति करने, स्वर्णीय प्रेम नजीर द्वारा 600 से अधिक फिल्मों के रोमांटिक शीर्षक दिए जाने और इन सबसे बढ़कर सुर-सप्ताही लता भंगेश्वर कर द्वारा 20,000 से भी अधिक गीत गाए जाने पर गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में भारत का नाम दर्ज किया गया है।

सभी क्षेत्रों में भारी पूँजी निवेश दिखाया गया है। फिल्म निर्माण इकाइयों, मनोरंजन और वृत्तचित्र पर 7 अरब 25 करोड़ रुपए, वितरक इकाइयों पर चार अरब 50 करोड़ रुपए, स्थायी और घुमन्तु सिनेमा पर 13 अरब रुपए, प्रयोगशालाओं पर 40 करोड़ और रिकार्डिंग स्टूडियो पर 40 करोड़ और वितरण पर 8 करोड़ खर्च होता है। आयात-निर्यात और उपकरणों पर भी पर्याप्त राशि खर्च की जाती है।

बॉक्स ऑफिस पर फिल्मों की मूल वसूली पर अनुमानित कर 11 अरब रुपए लगे जबकि कुल वसूली केवल 6 अरब रुपए से भी कम थी। राज्य सरकारों पर अनुमानित मनोरंजन कर लगभग 5 अरब 20 करोड़ रुपए था। अन्य कर वसूली लगभग दो करोड़ रुपए थी।

अस्ती के दशक के मध्य में भारतीय सिनेमा

अपने शीर्षस्थ स्थान पर पहुंच गया था। लेकिन इसी समय टेलीविजन के विस्तार, केबल क्रांति और सेटेलाइट चैनल प्रतियोगिता के कारण बैडियो कैसेट का दौर आ गया।

आमतौर पर फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में वार्षिक पूँजी निवेश लगभग 3 अरब रुपए है। एक फिल्म की अनुमानित लागत 75 लाख रुपए से एक करोड़ रुपए तक आती है। एक क्षेत्र में आमतौर पर एक फिल्म 15 लाख रुपए का कारोबार करती है। फिल्म-निर्माण इस प्रकार एक जटिल कार्य है।

बॉक्स ऑफिस वसूली

देश में लगभग 13,00 सिनेमाघर हैं। इनमें लगभग 9,000 स्थायी थियेटर हैं और शेष टूरिंग और मिलिट्री सिनेमाघर हैं। देश में हर सप्ताह एक करोड़ 50 लाख से अधिक दर्शक सिनेमा देखते हैं। वर्ष 1994-95 के दौरान विभिन्न कारणों से लगभग 160 थियेटर बंद हो गए।

पिछले कुछ वर्षों में बॉक्स ऑफिस पर चली फिल्मों से प्राप्त आय में कुछ वृद्धि हुई है। लेकिन मुख्य रूप से यह वृद्धि टिकटों के मूल्य

में बढ़ोतारी के कारण हुई है। वर्ष 1980-81 के दौरान मनोरंजन कर सहित बॉक्स ऑफिस से प्राप्त आय 3 अरब 35 करोड़ रुपए थी जो सन् 1981-82 में बढ़कर 3 अरब 86 करोड़ रुपए हो गई। 1982-83 में यह आय 4 अरब एक करोड़ 48 लाख रुपए और 1988-89 में 6 अरब 51 करोड़ लाख हो गई।

फिल्मों से कर वसूली में राज्य सरकारों ने 1980-81 के दौरान 2 अरब 25 करोड़ रुपए और 1987-88 में 5 अरब 25 करोड़ रुपए की राशि अंजित की।

आयात-निर्यात

फिल्मों के आयात-निर्यात की जिम्मेदारी कुछ वर्ष पहले तक सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थान राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम की जिम्मेदारी थी। लेकिन अब आयात-निर्यात के क्षेत्र में मुक्त बाजार व्यवस्था आ गई है इसलिए

फिल्म निर्माण के क्षेत्र में कोई नाटकीय कमी नहीं आने वाली। इसका मुख्य कारण है फिल्म निर्माण के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को इस माध्यम से लगाव है। वे भारी करों के बोझ और कम दर्शकों जैसी समस्याओं सहित अन्य कठिनाइयों के बावजूद फिल्म-निर्माण में लग रहेंगे।

राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम को अब इस क्षेत्र में निजी व्यावसायिक उद्यमियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है।

आज फीचर और गैर फीचर फिल्में लगभग 50 देशों में निर्यात की जाती हैं। इनमें कुछ देश ऐसे भी हैं जहाँ भारतीय आबादी बिल्कुल नहीं है। वर्ष 1970-80 में फिल्मों के निर्यात से 12 करोड़ की राशि प्राप्त हुई थी लेकिन 90 के दशक में इसमें पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस दौरान फीचर फिल्मों, वृत्तचित्रों और विज्ञापन फिल्मों से 75 करोड़ रुपए से भी अधिक की आमदनी हुई है।

भारत में फिल्मों का आयात मुख्यतः

राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के जरिए होता है लेकिन निजी आयातक फिल्मों के आयात के लिए अपना नाम पंजीकृत करा सकते हैं। इससे देश में आयात की जाने वाली फिल्मों की वास्तविक संख्या और इन पर खर्च की जाने वाली राशि का सही व्यौरा नहीं मिल पाता। राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम ने एक दशक से भी अधिक समय से लगातार लाभ दिखाया है।

एक वर्ष में बनने वाली कुल फिल्मों में से लगभग दो सौ हिंदी फिल्में होती हैं इनमें से कुछ मद्रास में बनाई जाती हैं। हर वर्ष 300 हिंदी फिल्में शुरू की जाती हैं लेकिन 200 से भी कम फिल्में पूरी हो पाती हैं। या तो ये फिल्में बीच में ही छोड़ दी जाती हैं या इन्हें बनने में कई वर्ष लग जाते हैं।

प्लस चैनल के प्रख्यात फिल्म निर्माता अमित खन्ना द्वारा 1987 में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार इस समय 300 हिंदी फिल्में शुरू की गई लेकिन इनमें से केवल डेंड सौ फिल्में ही पूरी बन पाई। एक सौ फिल्में रिलीज हुई जिनमें से केवल पांच सामान्य रूप से हिट रहीं और अस्ती फिल्मों में नुकसान उठाना पड़ा। इस दौरान पूँजीगत निवेश एक अरब 50 करोड़ रुपए का था। पूँजीगत

वर्ष 1994 में 20 भाषाओं और बोलियों में कुल 755 फिल्में बनीं। इन्हें केंद्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड के नौ विभिन्न जिला कार्यालयों में प्रमाणिकता प्रमाण-पत्र मिला।

नुकसान 50 करोड़ रुपए आका गया। इसके बावजूद वर्ष के अंत में कुल 200 फिल्में निर्माणाधीन थीं।

हर वर्ष देश में लगभग 25 भाषाओं और बोलियों में फिल्में बनती हैं। वर्ष 1994 में 20 भाषाओं और बोलियों में 755 फिल्में बनीं। केंद्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड के नौ क्षेत्रीय कार्यालयों में इन्हें प्रमाणिकता मिली। इस दौरान तेलुगु में सर्वाधिक 174, हिंदी में 156, (शेष मूष्ठ 56 पर)

অসমী সিনেমা—অতীত তথ্য বর্তমান

♦ ফানী তালুকদার ♦

শ্রী লাকা পুরুষ শ্রী জ্যোতি প্রসাদ সে লেকর সফলতম নির্দেশক শ্রী জাহনূ বুরুআ তক পিছলে
ছ: দশকোঁ মেঁ অসমী সিনেমা নে মহত্বপূর্ণ খ্যাতি অর্জিত কী হৈ। লেখক কা মাননা হৈ
কি যদি অতীত স্মরণীয় হৈ ওৱে বৰ্তমান সমৃদ্ধশালী হৈ তো অসমী সিনেমা কা ভবিষ্য ভী উজ্জ্বল
হী হোনা চাহিএ।

অগৰ হম ব্যাবসায়িক দৃষ্টি সে দেখেঁ তো

অসমী ফিল্মোঁ নে পিছলে ছ: দশকোঁ মেঁ কই উত্তৰ-চন্দ্ৰাব দেখে আৰু উসমেঁ সেম্য-সেম্য পৰ আশা-নিৰাশা কা দৌৰ চলতা রহা। লেকিন দূসৰী তৰফ, পিছলে এক দশক কে দৌৰান প্ৰদৰ্শিত কুছ অসমী ফিল্মোঁ নে কলাত্মকতা তথ্য তকনীকী দৃষ্টি সে সফলতা কী ঊচাৰ্ইয়োঁ কোঁ ভী মুআ হৈ। হাল হী মেঁ আযোজিত রাষ্ট্ৰীয় পুৱস্কাৰ প্ৰতিযোগিতা মেঁ জাহনূ বুৰুআ কো অপনী ফিল্ম “সগোৱেলোই বোহু দুৰ” কে লিএ বৰ্ষ 1994 কা সৰ্বশ্ৰেষ্ঠ ভাৰতীয় নির্দেশক কা পুৱস্কাৰ ভী মিলা। ইস ফিল্ম কো সৰ্বশ্ৰেষ্ঠ অসমী ফিল্ম কো পুৱস্কাৰ ভী মিলা। যদী নহীঁ বলিক ফিল্ম কে কেন্দ্ৰীয় পাত্ৰ বিষ্ণু খৰগোৱিয়া কো জ্যুৰী নে বিশেষ রূপ সে সৱাহা। উল্লেখনীয় হৈ কি বৰ্ষ 1992 মেঁ ইসী নির্দেশক কী অসমী ফিল্ম “ফিৰণ্গতী” কে মেলযা গোস্বামী কো সৰ্বশ্ৰেষ্ঠ কলাকাৰ কে পুৱস্কাৰ সে সম্মানিত কিয়া গয়া জবকি ইস ফিল্ম কো দূসৰী সৰ্বশ্ৰেষ্ঠ ভাৰতীয় ফিল্ম কো পুৱস্কাৰ মিলা। বৰ্ষ 1988 মেঁ জানু বুৰুআ কী অসমী ফিল্ম “হল্ডিয়া চঢ়াই বহোধন খাএ”, জো কি ইসী শীৰ্ষক সে লিখে গৈ হোমেন বোৱাগোহেন কে উপন্যাস পৰ আধাৰিত হৈ, কো সৰ্বশ্ৰেষ্ঠ ভাৰতীয় ফিল্ম পুৱস্কাৰ “স্বৰ্ণকমল” সে সম্মানিত কিয়া গয়া ওৱে ইস ফিল্ম কী মুছ্য পাত্ৰ ইন্দিৰা বানিয়া কো দেশ-বিদেশ মেঁ খ্যাতি মিলী। ইস তৰহ জাহনূ বুৰুআ কী লগাতাৰ সফলতাওঁ নে ন কেবল উনকে লিএ বলিক পূৰে অসমী ফিল্ম জগত কে লিএ খ্যাতি বটোৰী।

ইসী বীচ উনকী হাল হী মেঁ আই ফিল্ম “সগোৱেলোই বোহু দুৰ” (সমুদ্ৰ বহুত দূৰ হৈ) কো কুছ অন্তৰাষ্ট্ৰীয় মহোত্সবোঁ মেঁ প্ৰদৰ্শন কে লিএ ভাৰতীয় ফিল্ম কে রূপ মেঁ চুনা গয়া হৈ।

এক সাক্ষাত্কাৰ মেঁ জাহনূ বুৰুআ নে কহা কি বে কেবল অসমী ফিল্ম বনানা হী জারী রখেঁগে। হিন্দী ফিল্মী সংসাৰ মেঁ আনে কা উনকা কোই ইৱাদা নহীঁ হৈ। হালাকি হিন্দী ফিল্মোঁ কা বাজাৰ বিশাল হৈ তথ্য দৃষ্টি সে ভী যে ফাযদেমদ সৌদা হৈ। কিন্তু উনকে বিচাৰ মেঁ হিন্দী ফাৰ্মুলা ফিল্ম বনাকাৰ বে অপনী সামাজিক তথ্য সাংস্কৃতিক দৃষ্টি কো সীমিত নহীঁ কৰ সকতে। বে হিন্দী ফিল্ম বনানে কে কই প্ৰস্তাৱোঁ কো ঢুকা চুকে হৈ, ক্যোকি উনকা উদ্দেশ্য কেবল পৈসা কমানা নহীঁ হৈ। উনকা কহনা হৈ কি “মৈ কেবল অসমী সিনেমা কে লিএ কাম কৱুণ্গা।” ইসসে পহলে ভী পি.সি.বুৰুআ, ক্ৰতিক ঘটক তথ্য সত্যজিত রায় জৈসে মহান ফিল্ম নিৰ্মাতাৱোঁ নে ইসী তৰহ কো রৈয়া অপনায়া থাএ।

জানে-মনে ফিল্ম সমীক্ষক দিদানন্দ দাসগুপ্তা কা কহনা হৈ কি “প্ৰাদেশিক ফিল্মোঁ কী অপৰ নড়ে তথ্য পহচান হোতী হৈ। উনমেঁ রাষ্ট্ৰীয় গৰ্ব ঝালকতা হৈ ঔৱে অপনে রীতি-বিবাজোঁ পৰ জোৱ দিয়া জাতা হৈ।” প্ৰাদেশিক ফিল্মোঁ মেঁ বাস্তবিকতা তথ্য অখণ্ডতা কী ভাবনা জ্যাদা গহী হোনে কী বজহ সে জাহনূ বুৰুআ ভী অপনী মাতৃভাষা কে জৱিএ অপনে রাজ্য কে সামাজিক-সাংস্কৃতিক ইতিহাস কো সামনে

লানা চাহতে হৈ। চিদানন্দ দাসগুপ্তা কে অনুসাৰ “প্ৰাদেশিক ফিল্ম হী ভাৰতীয় হোতী হৈ। জব সিনেমা নহীঁ থা তব ভী সাহিত্য কী ভাঁতি ইসকা মুছ্য সংবংgh সামাজিক সমস্যাবোঁ সে রহা।” এসে বিচাৰেঁ বালে অসমী ফিল্মোঁ কে অগ্ৰদূতোঁ নে জো ফিল্ম বনাই, বে প্ৰাদেশিক ইতিহাস ঔৱে সাংস্কৃতিক গৌৱ পৰ আধাৰিত থীঁ।

শুৰুআত

1934-35 মেঁ জ্যোতি প্ৰসাদ অগ্ৰবাল নে পহলী অসমী ফিল্ম “জোয়মতী” বনাই জো জানে-মনে সাহিত্যকাৰ এল.এন.বেজবুৰুআ কে ঐতিহাসিক নাটক পৰ আধাৰিত থী। ফিল্ম কী অধিকতাৰ শুটিং স্টুডিয়ো কে বাহাৰ প্ৰাকৃতিক বাতাবৰণ মেঁ হুই। শেষ শুটিং চায়-বাগান “ভেলাগুৰী” মেঁ বনাএ গৈ এক কামচলাঊ স্টুডিয়ো-কাম্পলেক্স মেঁ কী গৈ। ইস স্টুডিয়ো কাম্পলেক্স কো “চিত্ৰাবন” কা নাম দিয়া গয়া। সংযোগ সে রাজ্য স্বৰকাৰ নে ইস ক্ষেত্ৰ কে পথপ্ৰদৰ্শকোঁ কী যাদাবাৰ মেঁ বনাএ গৈ এক স্টুডিয়ো কা নাম ভী “জ্যোতি-চিত্ৰাবন” রখা। “জোয়মতী” কলকাতা মেঁ 10 মাৰ্চ 1935 কো এক প্ৰেস সম্মেলন মেঁ রিলীজ কী গৈ। জবকি ইসকে নিয়মিত শো অসম মেঁ গুবাহাটী মেঁ এক থিয়েটাৰ হোল, “ভাস্কৰ নাট্য মন্দিৰ” মেঁ 20 মাৰ্চ 1935 মেঁ শুৰু হুই। রাজ্য মেঁ উস সময় কুছ হী শো-হাউস হোনে কী বজহ সে ফিল্ম নিৰ্মাতাৱোঁ কী ভাৰী ঘাটা উঠানো পঢ়া। ইসকে বাংজুড় চার বৰ্ষ পশ্চাৎ উন্হোঁ নে কম

बजट की एक सामाजिक फिल्म “इन्द्रामालती” बनाई जिसने थोड़ा-बहुत लाभ कमाया।

वर्ष 1941 में डिवर्गढ़ के चाय उत्पादक रोहिणी बरुआ ने तीसरी असमी फिल्म “मोनूमती” का निर्माण किया जो असम पर बर्मिंगम द्वारा आक्रमण के सन्दर्भ में लिखे गए रजनी कांता बारदोलोई के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास पर आधारित थी। चौथी असमी फिल्म चाय बागान के मालिक तथा कवि पार्वती प्रसाद बरुआ ने बनाई। यह फिल्म कमलेश्वर चलैहा की ग्रामीण परिवेश पर लिखी गई एक छोटी कहानी पर आधारित थी। पांचवीं असमी फिल्म “बंदन बरफुकान” एक प्रतिष्ठित कलाकार तथा संगीतकार कमल नारायण चौधरी के निर्देशन में बनाई गई। यह फिल्म भी असम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित थी। स्वतंत्रता-पूर्व केवल ये पांच असमी फिल्में बनीं। उल्लेखनीय है कि भारतीय भूमि पर हिन्दी में “आलमआरा” (14 मार्च 1931) पहली टॉकी (बोलने वाली) फिल्म बनने के चार वर्षों के अंदर असमी टॉकी फिल्म “जोयमती” 10 मार्च 1935 को रिलीज हुई। यह फिल्म ज्योति प्रसाद जैसे प्रशिक्षित निर्देशक ने बनाई, जिन्होंने ट्रीनिटी कालेज से संगीत की पढ़ाई की थी और जर्मनी में फिल्म निर्माण का कार्य सीखा था। हालांकि यह फिल्म कुछ कलात्मक सफलताओं को हासिल करने में कामयाब रही, किन्तु फिल्म निर्माताओं को वित्तीय तथा अन्य संकटों के चलते उम्मीद के अनुसार सफलता नहीं मिल पाई। साथ ही आवाज में तकनीकी खराबी के कारण ज्योति प्रसाद को तकरीबन सभी डायलॉग अकेले लाहौर में डब करने पड़े। दूसरी तरफ जब हिन्दी फिल्मों में ओवर एक्टिंग तथा रोमांटिक गीत-द्रामा चल रहे थे तब ज्योति प्रसाद ने असमी समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सौन्दर्यशास्त्रीय स्टाइल तथा देशभक्ति के आदर्शों पर आधारित फिल्म बनाने का साहस किया। उनका कहना है कि “मैंने अंग्रेजी तथा

रुसी फिल्मों की परम्पराओं पर फिल्म बनाने की कोशिश की। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि बंगाली तथा हिन्दी फिल्मों के कुछ जाने-माने निर्देशक भी स्टेज-एक्टिंग तथा फिल्म एक्टिंग में अंतर नहीं जान पाए।” यह बात ध्यान देने योग्य है कि असमी भूमि पर जन्म लेने वाले एक और संपूर्ण पी.सी. बरुआ, जिन्होंने अपना फिल्म निर्माण का स्थान कलकत्ता में स्थानान्तरित कर लिया, ने “देवदास” सहित हिन्दी तथा बंगाली में कुछ उत्कृष्ट फिल्में बनाई। उनकी तकरीबन सभी फिल्मों में वैहंद

कहानी पर आधारित फिल्म “सीरज” का निर्देशन विश्वनु राभा तथा फॉनी शर्मा ने किया। राभा एक स्वतंत्रता सेनानी तथा गायक हैं तथा शर्मा, जो विख्यात स्टेज कलाकार हैं, ने इस फिल्म को उत्कृष्ट बनाया। अन्य दो सफल फिल्मों में “प्रधात्” तथा “विपलबी” शामिल हैं। प्रबीण फुकान की फिल्म “प्रधात्” तथा ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित “बिपलबी” देशभक्ति पर आधारित एक सामाजिक फिल्म है जिसमें विख्यात कलाकार चन्दा फुकान ने काम किया तथा निर्देशन असित सेन ने किया, जो बाद में हिन्दी तथा बंगाली फिल्मों के प्रसिद्ध निर्देशक बने। लक्ष्यधर चौधरी ने 1955 में संगीत-निर्देशक पुरुषोत्तम दास के साथ मिलकर छोटे-मोटे ऋण तथा अनुदान एकत्रित कर “नीमिला औंखा” फिल्म बनाई जो असम के निम्न-मध्यम वर्ग में व्याप्त गरीबी तथा उनकी कठिनाइयों पर आधारित थी। दूसरी तरफ “पीयोली फुकान” स्वतंत्रता के संघर्ष पर आधारित एक सफल फिल्म थी, जिसे अखिल भारतीय स्तर पर पहचान मिली। निप बरुआ, जो लम्बे समय तक राज्य के फिल्म अधिकारी रहे, ने सात असमी फिल्में बनाई जिनमें से अधिकतर असम के मध्यम-वर्गीय जीवन पर आधारित थीं। उन्होंने अपनी पहली फिल्म “सूफलेखा” में प्लैश बैक तकनीक की शुरुआत की, साथ ही प्रभावशाली कृत्रिम लाइटिंग का भी सफल प्रयोग किया। ज्योति प्रसाद ने अपनी फिल्म “जोयमती” में भी अधिकतर शूटिंग स्टूडियो से बाहर करने का प्रयोग किया तथा असमी समाज की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया। असम को इन साहसी फिल्म-निर्माताओं पर गर्व है।

स्वतंत्रता के बाद

स्वतंत्रता के बाद 1948 तक असम का अपना विश्वविद्यालय, उच्च न्यायालय तथा रेडियो सेंटर था। इस दौरान फिल्म क्षेत्र में भी कुछ प्रसिद्ध निर्माण किए गए। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर लिखी गई लक्षीधर सर्मा की सशक्त

जाने-माने गायक तथा संगीतकार डा. भूपेन हजारिका ने विश्वविद्यालय में लेक्चररशिप

छोड़कर फिल्म क्षेत्र में प्रवेश किया और 1956 में पहली तथा सबसे अधिक सफल संगीत फिल्म “एरा बटर सुर” बनाई। उन्होंने बम्बई के कलाकार बलराम साहनी को असमी फिल्म में भूमिका दी, साथ ही लता मंगेशकर की आवाज को भी असमी फिल्मों में पहचान दी। उन्होंने “शकुन्तला” तथा “प्रतिध्वनि” सहित कई फिल्में बनाई जिन्हें राष्ट्रपति का रजत पदक मिला। उन्हें अब्दुल मजिद की असमी फिल्म “चमेली मेमसाहिब” में संगीत देने के लिए वर्ष 1995 का सर्वश्रेष्ठ भारतीय संगीत निर्देशक का पुरस्कार मिला। यह फिल्म निरोध चौधरी की कहानी पर आधारित थी। उन्हें वर्ष 1993 में सर्वाधिक प्रतिष्ठित दादा साहेब फाल्के पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है जिससे असमी सिनेमा को ख्याति मिलता स्वाभाविक है।

1963 में सर्वेश्वर चक्रवर्ती के द्वारा निर्देशित “मनीरन देवन” एक सफल ऐतिहासिक फिल्म है जिसे राष्ट्रपति का रजत पदक भी मिला। 1970 में एक फिल्म “अपराजया” रिलीज हुई। कलात्मकता से हटकर इस फिल्म में देश के विभाजन के बाद क्षेत्रीय सतरिया संस्कृति तथा बोट रेस के जरिए शरणार्थियों की एकता प्रदर्शित की गई है। कहानी लेखक फानी तलुकदार ने तीन युवा सहयोगियों अतुल बरदोलोई, गौरी वर्मन तथा मुनिन बायन के साथ मिलकर एक फिल्म बनाई जिसमें राखी गुलजार ने मुख्य महिला पात्र की भूमिका निभाई। फिल्म में लता, मन्ना डे तथा सविता चौधरी ने क्षेत्रीय लोक-कलाकारों जैसे डा. बीरेन दत्ता, खागेन महंता, रामेश्वर पाठक, प्रहलाद दास, अपूर्वा दास तथा प्रभात शर्मा के साथ मिलकर गीत गाए। फिल्म में संगीत सलिल चौधरी ने दिया। असमी कला फिल्म बनाने का यह पहला ईमानदार प्रयास था हालांकि यह फिल्म बाक्स आफिस पर फेल हुई। पद्म बरुआ ने भी लीक से हटकर एक फिल्म “गंगा चीलोनीर पाखी” बनाने का बेहतरीन प्रयास किया, हालांकि यह फिल्म भी बॉक्स आफिस पर भीड़ नहीं ब्रॉटर पाई। 1976 में रिलीज हुई यह फिल्म लक्ष्मीनंदन बोस के इसी शीर्षक से लिखे गए एक उपन्यास

पर आधारित थी। यहां कुछ ऐसी फिल्मों का जिक्र किया जाना भी जरूरी है जिनकी दर्शकों ने सराहना की— जैसे असम के बनीय जीवन पर आधारित समरेन्द्र नारायण देव की “अरण्या” (1970), कमल नारायण चौधरी के निर्देशन में बनी पहली रंगीन असमी फिल्म “बेटी” (1972), फानी तलुकदार की हास्य-व्यंग्य पर आधारित फिल्म “बिभरत” (1972), मनोरंजन सूर की “उठारन” (1973), पुलक गोगोई की “खोज” (1974) देयती बरुआ की “बृस्टि” (1974), अतुल बरदोलोई की सामन्तवाद के खिलाफ बनाई गई फिल्म “कलोल” (1978), गणेश दास की कहानी पर आधारित तथा फानी तलुकदार द्वारा निर्देशित फिल्म “मानसकन्या” (1985)।

योग-वियोग-टोरामल”, “अंजलि” “नोबोद”, “काकादे वता नाती अरू हाती”, “अजालिकोकेई” आदि। असम के ग्रामीण जीवन को उनके लोकगीतों तथा बीहू नृत्य से सफल हुई। इसी बीच डा. भाबेन सैकिया की कलात्मक फिल्म “सान्ध्यराग” तथा “अनिरबन” से कुछ ताजगी का अनुभव हुआ। “सान्ध्यराग” तकनीकी दृष्टि से भी एक सफल फिल्म रही।

जब कुछ नए निर्देशक जैसे दारा अहमद, धीरु भूयन, गौतम बोरा, संजीव हजारिका, प्रफुल्ल सैकिया, चारू कमल हजारिका गम्भीरता से आगे बढ़ रहे थे, तब फिल्म संस्थान के प्रशिक्षित युवा जानू बरुआ ने “अपारूपा”, “हलदिया चढ़ाए” बहो, धन खाए”, “फिरंगती” तथा “सगोरोलोई बहु दुर” जैसी कई अच्छी फिल्में बनाकर असमी फिल्म उद्योग को ख्याति दिलाई। इनमें से हर एक फिल्म से वह सफलता की सीढ़ियां चढ़ते गए।

बाक्स आफिस सफलता

दूसरी तरफ, डा० भाबेन सैकिया की पहली फिल्म “सन्ध्यराग” ने केवल बाक्स आफिस पर सफल हुई बल्कि असमी समाज के कलात्मक प्रस्तुतीकरण के लिए सिनेमा समीक्षकों ने उनकी काफी सराहना भी की। बास्तव में पहले बनी अधिकतर फिल्में बाक्स आफिस पर असफल रहीं। केवल कुछ फिल्मों जैसे “एरा बटर सुर”, “सीरज़”, रोंगा पुलिस”, “पीयोली”, “फुकान”, “शकुन्तला” तथा “पुबेरन” ने थोड़ा-बहुत लाभ कमाया। ब्रजेन बरुआ, जो मूलतः गायक तथा संगीत-निर्देशक है, अपनी पहली हास्य फिल्म “इतो सितो बहुतो” से तथा डा. बेजबरुआ सफल बॉक्स आफिस निर्देशक हो सकते थे। डा. बेजबरुआ ने 1970 में हिंसा तथा रोमांटिक गीतों पर आधारित हिंदी फार्मूला टाइप फिल्मों की असमी फिल्मों में शुरूआत की। उन्होंने अपने भाई दिवोन बरुआ तथा निप बरुआ (जो राज्य सरकार में फिल्म अधिकारी था) के साथ मिलकर कुछ फिल्में बनाईं, जैसे “मुक्त”, आफिस पर सफल रहीं जैसे “मुक्त”,

जहां तक व्यावसायिक पहलू का सर्वांग है, इन असमी फिल्मों को पुरस्कार विजेताओं के पैनल में शामिल होने पर निर्भर रहना पड़ता है ताकि दूरदर्शन उन्हें प्रसारित कर कुछ वित्तीय राहत दे सके; वरन् फिल्म-निर्माता सीमित बाजार तथा तंग बजट से फीचर फिल्म बनाने की सोच भी नहीं सकता। बास्तव में उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में सिनेमा देखने वाले अधिकतर दर्शक कई कारणों से सैक्स तथा हिंसा पर केन्द्रित घटिया हिन्दी फिल्मों की तरफ भाग रहे हैं। टी. वी. चैनलों के विस्तार ने मध्यम-वर्गीय असमी दर्शकों को छोटे स्क्रीन के साथ बांध दिया है। दूसरी तरफ, राज्य

सरकार द्वारा इस संदर्भ में दिया गया संरक्षण न केवल अपर्याप्त है बल्कि कुछ हद तक अव्यावहारिक है।

एक स्मरणीय इतिहास तथा समृद्धिशाली वर्तमान को देखते हुए असमी फिल्मों को सरकार तथा दर्शकों से सहानुभूतिपूर्ण प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ऐसी फिल्मों के प्रदर्शन की तरफ वितरकों तथा सिनेमाहॉल के मालिकों को विशेष ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम तथा राज्य फिल्म वित्त निगम को आसान शर्तों पर ऋण उपलब्ध करा फिल्म निर्माताओं की मदद करनी चाहिए। भारत में सिनेमा को अभी तबे समय तक महत्वपूर्ण जनसंचार-माध्यम की भूमिका निभानी है क्योंकि टी. वी. और रेडियो अभी भी फिल्मी गीतों पर निर्भर हैं। दूसरी तरफ दर्शकों के

अनपढ़ तथा कम पढ़े लिखे होने, नए अमीर वर्ग की घटिया रुचि तथा विकृत नगरीकरण की वजह से भारतीय सिनेमा में अश्लीलता और हिंसा बढ़ रही है। हमारी सांस्कृतिक विरासत तथा सदियों पुराने सिद्धांतों को यदि तकनीकी श्रेष्ठता के साथ क्षेत्रीय फिल्मों में दिखाया जाए तो इसमें कोई शक नहीं है कि इन फिल्मों में मौजूद ताजगी नई पीढ़ी को आकर्षित करेगी। क्षेत्रीय भाषाओं में हिंदी या दक्षिण भारतीय फार्मूला फिल्में विशेष सफलता हासिल नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके निर्माण पर भारी खर्च आता है। कुछ उत्साही युवा निर्देशकों द्वारा बनाई गई कई कम बजट की फिल्में सिनेमा दर्शकों को आकर्षित करने में विफल रहीं। ऐसी स्थिति में एक बीच का रास्ता अपनाना ही बेहतर है जिसमें लगाए गए

पैसे की न्यूनतम लाभ के साथ भरपाई हो सके तथा अंसर्म की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को भी ध्यान में रखा जाए। इसी से फिल्म निर्माताओं का भविष्य सुरक्षित रह सकता है। राज्य सरकार को फिल्म के एक वर्ष तक प्रदर्शन के तुरंत बाद फिल्म-निर्माताओं की सहायता के नजरिए से प्रथम वर्ष मनोरंजन कर में रियायत देनी चाहिए ताकि वे दोबारा फिल्म बनाने को ग्रोत्साहित हों। वितरकों को आसान शर्तें रखनी चाहिए तथा क्षेत्रीय फिल्मों के प्रदर्शन को प्राथमिकता देनी चाहिए। दूरदर्शन को क्षेत्रीय फिल्मों के प्रदर्शन की शर्तों को उदार बनाना चाहिए तथा इन फिल्मों के उपशीर्षकों को राष्ट्रीय भाषा में दिखाया जाना चाहिए। इस तरह के विशेष प्रयासों से ही असमी फिल्म-उद्योग का भविष्य उज्ज्वल हा सकता है। ■

(पृष्ठ 52 का शेष)

तमिल में 153 और कन्नड़ और मलयालम में 70-72 फिल्में बनीं। बंगाली में 44 और मराठी में 22 फिल्में बनीं। चार अंग्रेजी फिल्में भी बनीं। विभिन्न बोलियों जैसे तुलु, बुदेली, हरयाणवी और कोडवा में छः फिल्में बनाई गईं।

लगभग दस वर्ष पहले सभी फिल्मों को बंबई और मंद्रास में ही प्रमाणिकता प्रमाण-पत्र मिलता था और ये फिल्में वहीं सेंसर की जाती थीं। अब केंद्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड का मुख्यालय बंबई में है और इसके क्षेत्रीय कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, बंगलौर, गुवाहाटी, तिरुअनन्तपुरम, हैरदाबाद और कटक में हैं।

इस वर्ष के दौरान बंबई में 210 फिल्मों को प्रमाणिकता प्रमाण पत्र मिला लेकिन मद्रास में 280 फिल्मों को यह प्रमाण-पत्र दिया गया। वास्तव में दक्षिण भारत के चार केन्द्रों में 564 फिल्मों को प्रमाण-पत्र दिया गया है।

फिल्मी सितारों की आय के बारे में भी कई तरह की भ्रातियां प्रचलित हैं। प्रसिद्ध फिल्म नायक अमिताभ बच्चन के बारे में कहा जाता था कि वे एक फिल्म से लगभग 50 लाख रुपए

लेते हैं, लेकिन उन्होंने हमेशा इससे इंकार किया। लेकिन एक बात सत्य है कि फिल्म उद्योग में लगे लोग देश में सबसे अधिक कर देने वालों में हैं। फिल्म आकाश पर चमकने वाले इन कलाकारों द्वारा दिए गए करों की

वास्तविक राशि का ब्यौरा प्राप्त नहीं है। वर्ष 1993-94 के दौरान 19 फिल्मी सितारों पर 12 करोड़ 19 लाख रुपए का कर बकाया था। इनकी आय 10 लाख से भी अधिक थी। इनमें से तीन सितारों का निधन भी हो चुका था।

इन सबके बावजूद भारतीय सिनेमा ने कई कीर्तिमान स्थापित किए हैं। सिनेमा के क्षेत्र में कई विशेषताओं के कारण भारत का नाम गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में दर्ज किया गया है। जैसे कि वर्ष में सबसे अधिक फिल्म-निर्माण, अभिनेता जगदीश राज द्वारा पुलिस अधिकारी की सबसे अधिक भूमिकाएं, स्वर्गीय प्रेम नजीर द्वारा 600 से अधिक फिल्मों के रोमांटिक शीर्षक दिए जाने और इन सबसे बढ़कर सुर सप्राज्ञी लता मंगेशकर द्वारा 20,000 से भी अधिक गीत गाए जाने पर

गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में भारत का नाम लिखा गया है।

भारत को फिल्मों के क्षेत्र में और भी उपलब्धियां मिली हैं। उसने विश्व को सत्यजित राय जैसा फिल्मी चितेरा दिया, जिन्हें ऑस्कर जैसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया। राजकपूर जैसी फिल्मी प्रतिभा दी, जिसकी खाति केवल कोमल रोमांटिक फिल्मों के कारण नहीं है बल्कि जिन्होंने पूरे विश्व में आम आदमी से सिनेमा का नाता जोड़ा।

भारतीय फिल्में अपने गानों और नृत्य के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। वास्तव में नृत्य और गायन इन फिल्मों का प्रमुख अंग होता है। तीस के दशक में आई हिंदी फिल्म “इन्द्रसभा” में 72 गाने थे।

विश्व सिनेमा के इतिहास में भारत में बनी फिल्में “शोले”, “मैंने प्यार किया” और “हम आपके हैं कौन” ने बॉक्स आफिस से प्राप्त आय से काफी मुनाफा अर्जित किया है।

सपनों के सौदागरों का हार परिस्थिति, काल और स्थान पर शो जारी रहना चाहिए। महान कलाकार राजकपूर ने “मेरा नाम जोकर” के एक गीत में फिल्मों के प्रति लगाव को इस तरह व्यक्त किया है—“जीना यहां मरना यहां इसके सिवा जाना कहां” यानी हमारा जीवन यहीं है, मौत भी यहीं है इसके परे हमारा कोई संसार नहीं है। ■

ગુજરાતી સિનેમા

કલ ઔર આજ

હંસમુખ બરાડી

હાલાંકિ ગુજરાતી ફિલ્મ નિર્માતા શુરૂ સે હી ફિલ્મોં કા નિર્માણ કરતે રહે, લેકિન કુછેક ફિલ્મોં કો છોડકર કોઈ ભી ગુજરાતી ફિલ્મ અપના ચિરસ્થાયી પ્રભાવ નહીં છોડ સકી। ગુજરાતી ફિલ્મ-નિર્માતા ઇતિહાસ, મહાકાવ્યો, પુરાણો આદિ પર આધારિત વિસેન્પિટે કથાનક વાલી ફિલ્મે હી બનાતે રહે જો જીવન કી વાસ્તવિકતાઓં સે બહુત દૂર થીં।

હિન્દી ફિલ્મોં કે નિર્માણ કી જબ શુરુઆત

હુઈ, તથી સે ગુજરાતી લોગ ઇસ વ્યવસાય સે વિત્તીય રૂપ સે જુડે થે। ઉન્હોને ફાલ્કે કી “રાજા હરિશંદ્ર” કે બાદ પહોંચી ગુજરાતી મૂક ફિલ્મ “શ્રીકૃષ્ણ સુદામા” બનાઈ। 1924 મેં જયશંકર ઢિવેદી ને ભારતું કી પહોંચી ફિલ્મ ‘સાપ્તાહિક પત્રિકા’ ગુજરાતી મેં શરૂ કી જિસકા નામ થા—“પૌજમજા”। ઉન્હોને “ગુણસુન્દરી” (1934) કા નિર્માણ કિયા। હાલાંકિ 1931 મેં હી માણિક લાલ પટેલ ને દો સવાક લઘુ ફિલ્મેં બનાને કા પ્રયાસ કિયા। હિન્દી, ગુજરાતી ઔર મારઠી તીનોં ભાષાઓ મેં બનને વાલી યે ફિલ્મેં થીં, “મુખ્ખી ની શેઠાની” ઔર “ચાવ ચાવ નો મુરબ્બો”। તથી સે ગુજરાત કે અનેક ઉદ્યમિયોં ને ભારતીય સિનેમા કે વિકાસ મેં અપના યોગદાન દિયા હૈ। અભિનેતા, અભિનેત્રી ઔર નિર્દેશકોં કે રૂપ મેં હી નહીં, ગુજરાતિયોં ને તકનીકી, સ્પેશલ ઇફેક્ટ્સ ઔર કોસ્ટરૂમ કે ક્ષેત્ર મેં ભી યોગદાન કિયા।

મૂક ફિલ્મોં કે નિર્માણ કે દૌરાન, સાત મેં સે પાંચ કમ્પનિયા એસી થીં, જિનકા પૈસા ઔર પ્રબન્ધન ગુજરાતિયોં કે હાથોં મેં થા। 1919 સે 1932 કે બીच બખ્વી મેં ફિલ્મ-નિર્માણ કા કોમ લગભગ 20 ગુજરાતી કમ્પનિયાં સંભાળને લગ્ની, લેકિન વે દર્શકોં કે બીच દૂર-દૂર તક પહુંચના ચાહતી થીં, અંત: ઉન્હોને અપના પૈસા ઔર પ્રતિભા, હિન્દી ફિલ્મોં કે નિર્માણ મેં

લગાયા। યહ પ્રવૃત્તિ આજ ભી જારી હૈ।

ગુજરાત કી પહોંચી પૂરી લમ્બાઈ કી ફિલ્મ થી—“નરસિંહ મેહતા” (1932), જિસકા નિર્દેશન નનુભાઈ વકીલ ને કિયા થા। અગલે દો વર્ષો મેં “ગુણસુન્દરી” ઔર “સંસાર લીલા” કા સફળ પ્રદર્શન હુआ। 1948 મેં “ગુણસુન્દરી” કા પુનર્નિર્માણ હુआ। યહ ફિલ્મ બખ્વી મેં 25 સપ્તાહ તક ચલી। ઉસ વર્ષ ગુજરાતી મેં 26 ફિલ્મોં કા નિર્માણ હુआ જબકિ ઉન દિનોન ન તો કર મેં કોઈ છૂટ થી ઔર ન હી સરકાર કોઈ પુરસ્કાર આદિ દે કર પ્રોત્સાહિત કર રહી થી। ઇન્મેં અધિકાંશ ફિલ્મેં સામાજિક થીં।

પહોંચી ભારતીય ફિલ્મ જિસે પર અંગ્રેજોં ને પ્રતિવંધ લાગાયા, વહ થી—“ભક્ત વિદુર” (1921)। ઇસ ગુજરાતી ફિલ્મ કા નિર્માણ કંઝીભાઈ રાઠોર ને કિયા થા। ઇસ ફિલ્મ મેં સમકાળીન રાજનીતિક દશા પર કડા પ્રેહાર કિયા ગયા થા। ઇસમેં વિદુર કી ભૂમિકા નિભાને વાલે અભિનેતા ડી. સમ્પત ને ગાંધી ટોપી પહની થી। ઉનકી ફિલ્મ કમ્પની ને તિલક, ગાંધી, અલી બંધુઓં કે જુલૂસોં ઔર કાંગ્રેસ પાર્ટી કી બૈઠકોં આદિ કે બારે મેં લગભગ એક દર્જન વૃત્તચિત્ર બનાએ।

ફિલ્મોં મેં આવાજ કે અવતરણ સે ભાષા બની ઔર ફિર બની ભૌગોલિક સીમાએં, જિન્હેં

“પ્રાદેશિક ફિલ્મે” કહા ગયા। ઇન્સે ભી અપેક્ષા રહી ગઈ કિ ઇન્મેં વર્હા કી સંસ્કૃતિ કી મહક હો જૈસે— ફાંસીસી, પોલિશ, ચેક આદિ જો કિ જનસંખ્યા ઔર ક્ષેત્ર કી દૃષ્ટિ સે હમારે કઈ પ્રાંતોં સે ભી છોટે હૈન્ને। કઈ ફેંચ ઔર સ્વીડિશ ફિલ્મોં કે વિષય સાર્વભૌમિક હૈન્ને જિન્મે માનવ સવેદનાઓં કા ખજાના હૈ કિન્તુ કુછ એક ભારતીય ક્ષેત્રીય ફિલ્મોં કો છોડકર આજ ભી હમ એસી ફિલ્મેં નહીં બના સકે હૈન્ને।

ઉલ્લેખનીય ફિલ્મે

ગુજરાતી સિનેમા મેં કુછ ઉલ્લેખનીય ફિલ્મે બનીને—“ગુણસુન્દરી” (“સરદાર” ચંદ્રલાલ શાહ, અભિનેત્રી—નિરૂપા રોય, સંગીતકાર—અવિનાશ વ્યાસ), “મેહન્દી રંગ લાગ્યો” (1960, મનહર રસકાપુર) “મંગલફેર” (1949) ઔર “ગદા નો બેલ” (1959) (રત્નભાઈ પુનતરા), “જેર પિદાન....” (ઉપેન્દ્ર ત્રિવેદી) આદિ। ઇસ લેખ કા ઉદેશ્ય પિછે નો દશકોં મેં નિર્મિત ફિલ્મોં કી સૂચી તૈયાર કરના નહીં હૈ. અપિતુ કુછ જાની-માની સાહિત્યિક રચનાઓં પર આધારિત ફિલ્મોં કા સ્મરણ કરના હૈન્ને: “મલેલા-જીવ” (પન્નાલાલ પટેલ), “જન-મટિપ” (પટેલીકાર), “ગુણસુન્દરી નો ઘર સંસાર” (ગોવર્ધન રામ) “લિલુડી ધરતી” (માદિયા), “કંકુ કશીનોં દિકારો” (વિનોદ્રિની નીલકંઠ), “જિગર અમી” (ચુન્નીલાલ વી. શાહ) આદિ।

ન તો ગુજરાતી ફિલ્મ માધ્યમ કી જલ્દી હુઈ શરૂઆત સે ઔર ન હી 1971 સે ગુજરાત સરકાર દ્વારા દી જાને વાલી કર છૂટ કા ફિલ્મ નિર્માણ પર કોઈ અસર પડા। હીં, શરૂ કી કુછ એક ફિલ્મે જૈસે “ગુણસુન્દરી” ઔર હાલ કી ફિલ્મોં જૈસે “કાશી ન દિકારો”, “ભવાની ભવાઈ” ઔર “હુંશીલાલ” અપવાંદ કહી જા સકતી હૈન્ને। ગુજરાતી ફિલ્મ-નિર્માતા, મહાકાવ્યો ઔર પૌરાણિક કથાઓં કે નાટ્યશાસ્ત્ર સે ઇન્ને અધિક અભિભૂત રહે હૈન્ને કિ વે ગુજરાત કી વાસ્તવિકતા સે જુડ નહીં પાએ। હો સકતા હૈ કિ ઉન્કે દિમાગ મેં ગ્રામીણ ઔર છોટે શહરોં કો અર્દ્ધ-શહરી અશિક્ષિત દર્શક હી રહતા હો-

जहां जीवन अब काफी बदल चुका है। हाल की गुजराती फिल्मों में साहित्य का परित्याग हो चुका है। इनमें शेक की रजत पट पर अपने जीवन का प्रतिविम्ब देखने को नहीं मिलता जैसाकि कुछ अन्य भारतीय भाषाओं की फिल्मों में देखने को मिलता है।

गुजराती फिल्मों का नवीनतम फार्मूला क्या है? पगड़ी बाँधे देहाती हीरो, घिसापिटा चरित्रांकन, भूमिका पर आधारित चित्रांकन, समानान्तर कामेडी, रंगमंचीय संरचना, संवाद बोलने में अति-नाटकीयता, बचकाना दृश्यांकन, गीत और रास-गरबा।

यहां देहाती दृश्य अभी भी बहुत स्थानी हैं, गांव के बागी घुड़सवारी करते हैं और स्त्रियां अपने प्रेमियों की नाच-नाकर प्रतीक्षा करती हैं और उनके लिए देवी-देवताओं से मंगल-कामना करती हैं। ये सब हिन्दी व्यावसायिक फिल्मों की बड़ी ही फूड़ नकल, घटिया आलेख और सौन्दर्यविहीन फिल्में हैं।

1970 से 1987 के बीच बनी 33 गुजराती फिल्मों का अध्ययन किया गया। (ये फिल्में अहमदाबाद दूरदर्शन से क्षेत्रीय नेटवर्क के अन्तर्गत प्रसारित की गई थीं। इनमें से कई फिल्में कर-मुक्त थीं। इन 33 फिल्मों में से 22 फिल्में सामाजिक थीं; यारह फिल्में महाकाव्यों, इतिहास और पौराणिक कथाओं पर आधारित थीं जिनकी कहानियों से दर्शक भली-भाति परिचित थे और कहानियों में आने वाले मोड़ और कथानक के बारे में कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं थी। केन्द्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड, सेंसर बोर्ड और दूरदर्शन केन्द्र की पूर्व दर्शन समिति द्वारा अनुमोदित फिल्मों में से “श्रावणी सतम” में एक रोगी को छोटी-चेचक की देवी (शीतला माता) से मदद मिलने की कहानी है, फिल्म “महासती-अनसूया” में “सती” के चमत्कारों के सनसनीखेज दृश्य हैं, फिल्म “सोनकंसरी” में एक महिला को अपने पति की चिता पर बैठते दिखाया गया है।

अध्ययन के अनुसार इन 33 फिल्मों में

लगभग 102 महिला-पात्र थे जिनमें से केवल 12 ने कुछ कमाई-धंधे (जैसे बच्चों की देखभाल, गृहकार्य आदि) वाला काम किया जबकि शेष 87 महिलाएं कोई ऐसा काम नहीं करतीं जिससे कि परिवार के बजट में उनका कोई योगदान हो। इनमें से केवल 20 प्रतिशत शिक्षित थीं। इनमें से 85 प्रतिशत महिला पात्रों का चित्रांकन नकारात्मक था जिनकी या तो खिल्ली उड़ाई गई थी या उनका यौन-शोषण दिखाया गया था। खलनायिका का चरित्र भी भूमिका आधारित और घिसा-पिटा था। “सकारात्मक” भूमिका में—आदर्श मा है, पति की पूजनी पतिव्रता स्त्रियां हैं, त्याग की मूर्ति हैं, देवी-देवताओं की पूजा में व्यस्त महिलाएं हैं, वे महिलाएं हैं जो उस घर के एकान्ता कोने में पड़ी बिसूर्ती रहती हैं, जहां केवल मर्दों की बात ही हुक्म है क्योंकि वे परिवार के पोषक हैं, भर्ता हैं। ये उपरोक्त कथन बिना किसी टीका-टिप्पणी के दिए गए हैं।

भारतीय अंतरिक्ष शोध संस्थान, ‘इसरो’ की खेड़ा (पी. आई. जे.) टी. वी. यूनिट, संचार के विकास कार्यों में समर्पित थी और इसने टी.वी. पर नित्य एक घण्टे के कार्यक्रम में 17 वर्षों तक कीरा जिले के गांवों की असलियत और अर्द्ध शहरी जीवन का सजीव चित्रांकन किया। इनमें कई सामाजिक पहलुओं को नाटकीय और पत्रकारिता की दृष्टि से बड़े ही सुन्दर अंदाज में प्रस्तुत किया गया। इस टी.वी. यूनिट ने कुछ टेली-फिल्में भी बनाई जैसे “सुंधेल” (बराड़ी), “आसू बीनो उजास” (ए. व्यास), “बचालू-फलियू” (बी. दवे) आदि। लेकिन इनके निर्माता-निर्देशकों ने कभी बड़े पर्दे पर काम करने की नहीं सोची, सिवाय केतन मेहता, ए. खोपकर और जानू बरुआ के। इन लोगों ने भी टेलीविजन छोड़ने के बाद ही फिल्मों के लिए काम किया।

विशिष्ट उपलब्धि

“कंकू” और “काशी न दीकरो” के बांद बड़ा ही सुहाना परिवर्तन देखने को मिलता है। केवल मेहता ने फिल्म संस्थान और खेड़ा संचार प्रयोगशाला में जो कुछ सीखा था उसके

आधार पर 1981 में उन्होंने “भवानी भवाई” बनाई। केतन मेहता की ये फिल्म आखिरी दर्शक की मध्ये उपलब्धि थी। दृश्यावली का जो खूबसूरत प्रयोग इस फिल्म में किया गया वह केतन की दो अन्य फिल्मों “होली” और “मिर्च मसाला” में और भी निखरा जिसमें दृश्यों ने ही संवाद का काम किया। ये दोनों फिल्में हिन्दी में थीं। नसीरुद्दीन, गोखले, ओमपुरी और स्मिता ने सशक्त अभिनय किया और कृष्णाकांत, “पम्पी” का छायांकन भी अद्वितीय रहा। लेकिन ये सही मायने में निर्देशक की फिल्में कही जाएंगी जिनमें एक लोककथा को रजतपट पर “बोली” मिली। फिल्म के संपादन में ‘ब्रेक्ष्ट’ का सिद्धांत अपनाया गया और फिल्म के दो अंतिम सिरे दर्शक को अछूतों की समस्या पर सोचने को मजबूर करते हैं।

नीचे दी जा रही कहानी से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह कैसे किया गया—एक ऐसे समाज में जहां जाति के आधार पर लोगों को अपमानित किया जाता हो, भेदभाव बरता जाता हो, वहां नीची जाति के लोग ऊंची जाति के लोगों के हाथों जब-तब तबाही और मौत झेलते हैं। इसी तरह एक बार जाति-घृणा भड़कने के बाद अछूतों का एक टोला अपने को बेघर पाता है। उनकी झोपड़ियां जला दी गई हैं। नए ठिकाने की तलाश में ये लोग एक रात कहीं ठहरे हुए हैं। इनमें से एक रोते-बिलखते बच्चों को शांत करने के लिए गाने लगता है। गीत में एक कहानी है जो बहुत पहले की है, जब परिस्थितियां अब से भी अधिक जटिल और क्रूर थीं तब “अछूतों” को एक खास तरह का वस्त्र पहनना पड़ता था जिससे दूर से ही उनकी पहचान हो जाती थी और अन्य जातियों के लोग उनके स्पर्श से बच कर निकलते थे। शहर में राजा का शासन था जो निर्दयी और क्रूर था। महल के षड्यंत्रों और अंधविश्वासों के कारण वह अपने ही नवजात शिशु की हत्या का आदेश दे देता है; लेकिन किस्मत बच्चे का साथ देती है और वह बच जाता है। यह बच्चा एक खूबसूरत “अछूत”

नौजवान के रूप में बड़ा होता है। राजा और शोषित जनता, पिता और पुत्र का आमना-सामना होता है। “जीवो” जो वास्तव में राजकुमार था, किन्तु अछूत बन गया था, अछूतों के उद्धार के लिए अपना बलिदान देने को तैयार हो जाता है। एक तरह से वह जीत भी जाता है लेकिन गुजरात के कई गांवों में आज भी यह संघर्ष जारी है।

“हुणा हुंशी हुंशीलाल” (1991) प्रतीकात्मक चरित्रों और स्थलों की व्याघ्रात्मक कहानी है। यह शासकों और शासितों की कहानी है जिसमें नव-व्याघ्रात्मक के दृश्य कथानक में प्रशासन के कामकाज प्रर टिप्पणी की गई है। “व्याघ्रात्मक” यहां स्वप्न और कल्पना में परिवर्तित हो जाता है। यह पहली गुजराती फिल्म है जिसके बारे में कहा जा सकता है कि इसमें जर्मन अभिव्यन्नजनावाद और सिनेमा वैविध्य के तत्त्व हैं।

एक काल्पनिक देश “खोजपुरी” में जो भी राजा सिंहांसन पर बैठता है उसे मच्छर सपनों तक में बुरी तरह से परेशान करते हैं। ये कुछ तत्त्व, गुजराती सिनेमा में ही नहीं, भारतीय सिनेमा में भी आए अभिनय परिवर्तन हैं। स्वप्न समान वातावरण को व्यक्त करने के लिए दृष्टिभाषा का उपयोग मुग्ध कर देने वाला था। फिल्म का साउण्ड-ट्रैक, अश्रुत ध्वनियों की गूंज पीछे छोड़ जाता है जिसमें प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों प्रकार की ध्वनियां हैं। संजीव शाह से आशा की जा सकती है और उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

“काशी नो दीकारो”, “कंकू”, “जेर तो पिधान”, “भवानी भवई” आदि कुछ ऐसी फिल्में हैं जो जानी-मानी गुजराती साहित्यिक कृतियों पर आधारित हैं लेकिन नवीनतम फिल्म “मानविनी भवई” से बहुत ही निराशा हुई। इस फिल्म में अकाल और सूखे की स्थिति के मानवीय पहलू को पन्नालाल पटेल ने नर्मदा बांध के प्रचार के साथ समाप्त कर दिया।

यह देखकर मन दुःखी होता है कि सिवाय

“हुन हुंशी हुंशीलाल” (1991) के, अन्य गुजराती फिल्मों में न तो सिनेमा में आई तकनीकी क्रांति देखने को मिलती है और न ही गुजराती जीवन में आया सामाजिक-आर्थिक बदलाव ही देखने को मिलता है।

गुजराती फिल्म-निर्माण का व्यवसाय कुछ एक ऐसे लोगों के हाथ में है जिनका दृश्य-कला से कोई सरोकार नहीं। हमारे पास गुजराती फिल्म विकास निगम है, तीन या चार स्टूडियो भी हैं, तकनीशियन हैं, कर-छूट की सुविधा है लेकिन कोई सांस्कृतिक नीति नहीं है। आवश्यकता है ऐसे निर्देशक की, जो जीवन की सादृश्य-भाषा में प्रतिपादित कर सके। व्यावसायिक घिसे-पिटे फार्मले वाली फिल्में बनाने वाले निर्माताओं की “जनता की मांग” की दलील किसी सर्वेक्षण या अध्ययन पर आधारित नहीं है और उनकी हिचक या भय निराधार और भ्रमवश है, इसलिए इसमें कोई आशर्य नहीं कि राष्ट्रीय स्तर पर गुजराती फिल्मों को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है।

यहां फिल्म उद्योग एक छोटे से कारखाने की भाँति है जहां घिसे-पिटे कथानक पर फिल्में बन रही हैं जैसे किती छोटे से द्वीप का कोई घटनाक्रम हो। यहां देश के अन्य विकसित और प्रगतिशील फिल्म निर्माण का कोई असर न जरूर नहीं आता। कुल मिलाकर यहां फिल्म-निर्माण दृश्य एक आयामी, अंधकारमय, व्याघ्रात्मक और कृत्रिम दोनों प्रकार की ध्वनियां हैं। संजीव शाह से आशा की जा सकती है और उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

आज कौन ऐसा व्यक्ति है जो गरीबी या समाज में महिलाओं की हेय स्थिति या जिसके पास ताकत है उसकी हिंसक प्रवृत्ति से परिचित नहीं है। फिल्में और उनके सर्जक, ही सकता है कोई सामाजिक संदेश देने में रुचि न रखते हों लेकिन अगर वे अपने अभिव्यक्ति के अधिकार से आम आदमी के अधिकारों का हनन करते हैं तो जाहिर है उन्हें इसके लिए उत्तरदायी होना पड़ेगा। महिलाओं को उपभोग की वस्तु के रूप में प्रदर्शित करना, उनका निरादर करना है। “पतिव्रता” या “मां देवी” की घिसीपिटी भूमिका भी भ्रमित करने वाली

है। इससे भी नारी की प्रतिभा पर असर पड़ता है जो कि अन्यथा सामान्य रूप में समाज और परिवार के लिए समान रूप से उपयोगी है।

राज्य में निर्मित और प्रदर्शित फिल्म को कर में छूट देने से, फिल्म लम्बे समय तक चलती है, लेकिन यह सरकारी मदद भी फिल्म बनाने के बाद ही मिलती है। वास्तव में अच्छी फिल्म के निर्माण के लिए प्रोत्साहन की आवश्यकता है। अच्छी प्रतिभा और निर्देशक की मदद भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि फिल्म निर्देशन का माध्यम है। यह बात गुजरात फिल्म विकास निगम को राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम से सीखनी चाहिए।

गुजराती में लघु-फिल्मों का निर्माण केवल विकासशील योजनाओं के प्रचार के लिए किया जाता है। इस नीति का पुनरावलोकन किया जाना चाहिए और अच्छी लघु-फिल्मों के निर्माण के लिए संसाधनों की ओर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता है। जब तक राज्य सरकार अपना प्रशिक्षण केन्द्र शुरू नहीं करती, तब तक इसे अपने कुछ चुने हुए युवा और प्रतिभाशाली लोगों को पुणे के फिल्म और टेलीविजन प्रशिक्षण संस्थान में भेजना चाहिए। राज्य के विभिन्न भागों में फिल्मोत्सव और फिल्म-समीक्षा संबंधी कार्यशालाएं आयोजित करना भी उपयोगी सिद्ध होगा। इसी प्रेक्षक ‘गुजरात फिल्म विकास निगम’ को फिल्म-पत्रिका भी निकालनी चाहिए ताकि “दृश्य ज्ञान” को बढ़ावा मिल सके। “गुजरात फिल्म विकास निगम” पूर्ण रूप से स्वायत्त है और इसके पास धन की भी कमी नहीं है। इसके निर्देशक मण्डल में कल्पनाशील, विचारशील और सर्जनात्मक व्यक्ति होने चाहिए।

आज अवसर हाथ से निकलता मालूम पड़ता है। जल्दी ही 24 घण्टों का बहु वैनल उपग्रह टी.वी. शुरू होने वाला है और हिन्दी व्यावसायिक फिल्मों से भी मुकाबला करना है। लेकिन यहां भी एक मौका नजर आता है।

क्षेत्रीय भाषाई फिल्मों के दर्शक थोड़े हैं, लेकिन ऐसा केवल शुरू में ही महसूस होता है। सत्यगित राय ने केवल बंगला में ही फिल्में बनाई, जिनमें बंगला जीवन और संस्कृति को

दर्शाया लेकिन उनकी फिल्मों के जरिए भारतीय सिनेमा, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाना गया। जिस प्रकार उन्होंने और उन जैसे ही अन्य निर्देशकों जैसे मृणालसेन, ऋत्विक घटक

और श्याम बेनेगल ने भारतीय जीवन की सूक्ष्म जानकारी दी, उसी प्रकार आज कैमरे की ओर से, गुजरात के जन-जीवन के बारे में विस्तार से जानने का मौका देने की जस्तरत है। ■

पृष्ठ 44 का शेष

क्योंकि इनमें से अधिकतर फिल्में नाइट्रो आधारित हैं और नष्ट हो चुकी हैं। इसलिए इस अवधि की बची हुई फिल्मों में चयन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरी कसौटी के अनुसार 1955 के बाद की फिल्मों में से प्राप्त की जाने वाली फिल्में इसे प्रकार हैं :

- राष्ट्रीय एवं राज्य पुरस्कार प्राप्त करने वाली फिल्में।
- बॉक्स ऑफिस पर लोकप्रिय होने वाली सभी फिल्में।
- अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों और भारत में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह के इंडियन पेनोरमा वर्ग में दिखाई जाने वाली फिल्में।
- राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम या भूतपूर्व फिल्म वित्त निगम द्वारा निर्मित एवं वित्तीय सहायता प्राप्त फिल्में।
- प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों पर आधारित फिल्में।
- भारतीय सिनेमा के विभिन्न रूपों को दर्शने वाली फिल्में जैसे कि पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, पारिवारिक, करतब वाली फिल्में, बाल फिल्में आदि।
- निजी एवं सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्मित समाचार चित्र, वृत्त चित्र तथा लघु फिल्में।
- विदेशों की चुनी हुई महान फिल्में। इनमें विभिन्न देशों के बड़े फिल्मकारों द्वारा निर्मित फिल्में तथा उन देशों की राष्ट्रीय शैलियों और विशेषताओं

का प्रतिनिधित्व करने वाली फिल्में शामिल हैं।

इसके अलावा भारतीय सिनेमैटोग्राफ कानून के तहत भारत में प्रदर्शित फिल्मों के सेंसर किए गए अंश केन्द्रीय प्रमाणीकरण बोर्ड द्वारा अभिलेखागार में जमा कराए जाते हैं। इस समूची सामग्री के आधार पर शोधकर्ता भारतीय समाज के मूल्यों और मान्यताओं में परिवर्तन के संदर्भ में भारतीय संसर्गिष के इतिहास का अध्ययन कर सकते हैं। इस दृष्टि से केन्द्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड द्वारा जमा की गई 20,000 पटकथाएं भी बहुत उपयोगी हैं क्योंकि इन पटकथाओं पर बनी बहुत सी फिल्में नष्ट हो चुकी हैं।

अभिलेखागार की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि इसे फिल्म संस्कृति का समूचे देश में प्रसार करने का दायित्व सौंपा गया है। कुछ लोगों को भले ही यह बात अनोखी लगे, किन्तु हम इसे सच्चा उद्देश्य मानकर चलते हैं। इसके लिए भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार ने खरीदकर अथवा अन्य अभिलेखागारों से विनियम के माध्यम से अनेक विदेशी फिल्में प्राप्त की हैं। ये फिल्में शोधकर्ताओं, फिल्मकारों तथा अन्य लोगों को नियमित रूप से अभिलेखागार में दिखाई जाती हैं और फिल्म संस्थान को शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए उपलब्ध कराई जाती है। पुणे और कलकत्ता, बंगलौर तथा त्रिवेन्द्रम में अभिलेखागार के क्षेत्रीय कार्यालयों में 16 एम.एम. की फिल्म लाइब्रेरी द्वारा फिल्म प्रदर्शन करने वाली संस्थाओं को यह सुविधा बड़े पैमाने पर उपलब्ध कराई जाती है।

पिछले दो दशकों से भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार की ओर से पुणे में 5 दिन का

वार्षिक फिल्म समीक्षा पाठ्यक्रम आयोजित किया जाता है जिसमें देश भर से विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को भारतीय एवं विश्व सिनेमा के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराया जाता है। इन पाठ्यक्रमों में जिन विषयों की चर्चा होती है, उनमें फिल्म माध्यम के आधारभूत तत्व, कला के रूप में सिनेमा, फिल्मों का इतिहास, फिल्म सिद्धांत और अन्य कलाओं के साथ फिल्मों का संबंध आदि शामिल हैं। देश में अन्य स्थानों पर भी इस तरह के कम अवधि के पाठ्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। ये पाठ्यक्रम काफी लोकप्रिय रहे हैं और इनसे फिल्मों से प्रभावित हमारी संस्कृति में फिल्मों के प्रति विश्लेषणात्मक दृष्टि अपनाने की आवश्यकता के बारे में चेतना पैदा करने में मदद मिली है।

सिनेमा की शताब्दी

सिनेमा के सौ वर्ष पूरे होने के सिलसिले में अभिलेखागार ने अगले दो वर्षों में पुरानी फिल्मों के प्रदर्शन, सिनेमा के इतिहास पर प्रदर्शनियों के आयोजन, कुछ पुस्तकों और पुस्तिकाओं के प्रकाशन और भारतीय फिल्मों के अध्ययन एवं सिद्धांत पर गोष्ठी आयोजित करने की योजना बनाई है। इसका उद्देश्य फिल्मों के संरक्षण के बारे में लोगों को फिर से जागरूक बनाना तथा समकालीन समाज में फिल्मों की बदलती हुई छवि की भूमिका एवं प्रभाव का अध्ययन करना है।

सिनेमा के इस शताब्दी वर्ष में हम महसूस करते हैं कि अब तक हमने काफी कुछ प्राप्त किया है परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है और हम सिनेमा की अगली शताब्दी की सभी चुनौतियों का सामना करने को तैयार हैं। ■

कन्नड सिनेमा अतीत और वर्तमान

वी. एन. सुब्बाराव

कन्नड सिनेमा में लीक से हटकर बनी फिल्मों को काफी बढ़ावा मिला। इस शैली की अधिकतर फिल्में सामाजिक रूप से जागरूक लेखकों की महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों पर आधारित थीं, जिनमें से कुछ बाद में फिल्म-निर्माता बन गए। हालांकि लीक से हटकर कन्नड सिनेमा लम्बे समय तक नहीं टिक पाया।

भारत में प्रवेश के काफी समय बाद सिनेमा कर्नाटक में पहुंचा। दादा साहेब फालके ने 1913 में पहली मूक फिल्म 'बनाई थी जबकि कन्नड भूमि पर इस नए माध्यम का प्रवेश 1926 तक हो पाया। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कर्नाटक में मूक फिल्मों के अग्रदूत कन्नड नहीं थे। इस राज्य में पहली मूक फिल्म तथा पहली बोलने वाली फिल्म, दोनों के निर्माता गैर-कन्नड थे।

वर्ष 1928 में कन्नड भूमि के पहले व्यक्ति गुब्बी विरन्ना ने अपनी पहली मूक फिल्म 'हरिमाया' का निर्माण कर फिल्म संसार में धमाके के साथ प्रवेश किया किन्तु लम्बे समय तक इस क्षेत्र पर बाहरी व्यक्तियों का ही कंबजा रहा क्योंकि इस क्षेत्र में आने वाले अधिकतर स्थानीय लोग बाहरी व्यावसायियों के मुकाबले नौसिखिये ही अधिक सिद्ध हुए।

कन्नड सिनेमा के विकास पर दृष्टिपात्र करने से पूर्व इसकी पृष्ठभूमि पर ध्यान देना भी आवश्यक है क्योंकि इसमें कुछ ऐसे तथ्य छिपे हैं जिनसे कई स्थानीय दोषों का पता चलता है। औसत कन्नड फिल्म निर्माता में जोखिम तथा साहस की भावना कम ही पाई जाती है हालांकि कुछ अपवाद भी मौजूद हैं। साथ ही यह भी सच है कि यदि मुट्ठी भर कन्नड निर्माताओं ने साहस नहीं दिखाया होता

तो कन्नड सिनेमा ने आज एक कला तथा उद्योग के रूप में अपनी जड़ें नहीं जमाई होतीं।

अस्ती के दशक के मध्य में स्थिति में कुछ बदलाव आया जिससे आज कन्नड लोगों की अपनी पहचान तथा व्यक्तित्व में जीवंतता देखने में आयी है। लेकिन इसमें सदैह नहीं कि कन्नड सिनेमा की स्थिति आज बिल्कुल अलग होती यदि प्रारम्भ से ही कन्नड लोगों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना पैदा की गई होती।

लीक से हटकर बनी फिल्मों की भूमिका

1970 में पट्टाभिरामा रेडी की "संस्कार" के बाद कन्नड सिनेमा को बढ़ावा देने का जिम्मा लीक से हटकर बनी फिल्मों पर आ गया। इस शैली की अधिकतर फिल्में सामाजिक रूप से जागरूक लेखकों की विशिष्ट साहित्यिक कृतियों पर आधारित थीं जिनमें से कई बाद में फिल्म निर्माता बन गए। किन्तु दुर्भाग्य से लीक से हटकर बनी कन्नड फिल्में लम्बे समय तक नहीं चल पायीं, जिसकी वजह केवल इसका सीमित प्रदर्शन नहीं है, बल्कि इसकी अपनी संरचनात्मक तथा तकनीकी खामियाँ हैं।

लीक से हटकर बनी कई फिल्मों में रचनात्मकता थी, किन्तु उनमें व्यवस्था तथा विशेषता की कमी थी। परिणामस्वरूप गम्भीर

संचार समस्याओं के साथ उनका अंत हो गया। यहां तक कि कुछ निर्भीक फिल्म निर्माता जो लीक से हटी फिल्में बना सकते थे उन्होंने भी इन से मुंह मोड़ना बेहतर समझा और इससे लीक से हटकर फिल्म निर्माण में दोबारा बाधा उत्पन्न हुई। फिलहाल कन्नड सिनेमा की स्थिति परणासत्र है, केवल एक-दो दृढ़ संकल्प वाले फिल्म निर्माता एक-आध फिल्म बनाकर अपने कंजूद का सबूत दे देते हैं। कन्नड में लीक से हटकर बनी फिल्मों के सफल न होने का एक अन्य कारण इसका सही मूल्यांकन नहीं हो पाना भी रहा है।

हालांकि कर्नाटक तथा देश से बाहर के समीक्षक तथा सिनेमा लेखक केवल इस शैली की उन बेहतर कन्नड फिल्मों को ही देख पाए जिन्हें भारतीय अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव के भारतीय पैनोरामा अनुभाग में या अन्य विश्वस्तरीय महोत्सवों में स्थान मिला या राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले। परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी देखी हुई इन श्रेष्ठ फिल्मों को सम्पूर्ण आंदोलन के संदर्भ में सही समझा। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि कुछ महत्वपूर्ण विदेशी समीक्षकों की प्रशंसा तथा सन्दर्भों ने कई महत्वाकांक्षियों को कर्नाटक वापस आने तथा इस क्षेत्र में कूद पड़ने को प्रोत्साहित किया और कुछ लोगों ने यह जुआ खेला भी लेकिन अंतिम परिणाम यह रहा कि इन लोगों का उत्साह अपने ही बोझ तले दब गया।

उक्त पृष्ठभूमि के बावजूद कन्नड सिनेमा अपने 62 वर्षों के जीवनकाल में जिन विभिन्न चरणों से गुजरा, उन पर दृष्टिपात करना भी जरूरी है। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उच्च-स्तरीय एवं निम्न-स्तरीय फिल्मों के बीच प्रतिद्वन्द्विता सिनेमा के आरम्भिक दिनों में भी थी जिसमें मूक फिल्मों का दौर भी शामिल है। जैसा कि कई वरिष्ठ समीक्षकों ने कहा है कि अधिकतर मूक फिल्में अपरिक्व थीं। ये फिल्में या तो करतबों पर आधारित थीं या धार्मिक अथवा काल्पनिक कथाओं पर।

एक अनूठा संकलन

जाने-माने नाटककार तथा लेखक टी. पी. केलासम की प्रेरणा से जब सौन्दर्यशास्त्री मोहन भवनानी शुद्धक के उत्कृष्ट नाटक 'मृच्छकेटिक' पर फिल्म बनाने के लिए इस क्षेत्र में उत्तरे तो कुछ अन्य तत्कालीन अति विशिष्ट बुद्धिजीवी भी इस क्षेत्र में उत्तरने का साहस जुटा पाए। प्रसिद्ध कला समीक्षक वेंकटाचलम भी इनमें से एक थे। श्री वेंकटाचलम अजन्ता की गुफाओं की कला के विशेषज्ञ थे। उन्होंने बंगलौर में रिचमण्ड रोड पर एक शानदार बंगले के अहाते में अजन्ता की गुफाओं के बखूबी डिजाइन बनाए। उन्होंने इस दौर की फिल्मों की वेशभूपा के डिजाइन भी तैयार किए जो अपनी बेहतरीनता की बजह से जाने गए। जाने-माने साहित्यकार प्रोफेसर वी. सीतारमव्या तथा वी. वेंकोबा राव इस परियोजना में सलाहकार थे। जेट्रटी धायम्मा, जो उस समय की प्रसिद्ध भरतनाट्यम नृत्यांगना थीं, उन्होंने नृत्यों का निर्देशन किया। एक जर्मन तकनीशियन ने कैमरा सम्पादा तथा एक आयरिश कवि तथा प्राच्य विद्या के विद्वान ने फिल्म की कमेन्टरी लिखी। फिल्म के कलाकारों में थे—केलासम एनाकशी रामाराव (बेनेगल रामाराव की बेटी) और जे. एच. नन्दा।

मनोविज्ञान के प्रोफेसर डा० एन. एस. नारायण शास्त्री, कमला देवी चट्टोपाध्याय, नलिनी तारखड़, वी. एस. रामाराव, ए. सीताराम (जो बाद में प्रसिद्ध लेखक आनन्द के नाम से जाने गए), डा. डी. के. भारद्वाज, वी. कृष्णा तथा कई अन्य शास्त्रिय थे, जो इस युग के जाने-माने बुद्धिजीवियों के नाम थे। यह फिल्म वित्तीय तथा कलात्मक, दोनों दृष्टियों से सफल रही किन्तु उसके बाद कोई अन्य फिल्म बनाने के लिए इन दोनों का सफल मिश्रण नहीं हो पाया। तत्पश्चात् मोहन भवनानी ने बम्बई लौटकर फिल्म प्रभाग में नौकरी कर ती जिसमें बाद के वर्षों में वे उच्च पद पर रहे। कन्नड़ सिनेमा के मूक दौर में एक अन्य अनूठा संकलन "वसंत सेना" बना। निसंदेह रूप से कर्नाटक में मूक फिल्मों के

अग्रदूत गुब्बी वीरन्ना थे। तीन मूक फिल्में बनाने के बाद उन्होंने बोलने वाली फिल्मों की तरफ रुख किया।

कर्नाटक का पहला स्टूडियो

कर्नाटक में पहला स्टूडियो बंगलौर में कविंघम रोड पर 'सूर्य' फिल्म स्टूडियो के नाम से स्थापित किया गया। कन्नड़ तथा बाहरी सिनेमा के बीच अंतरसम्बन्ध, जो कन्नड़ सिनेमा का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है मूक फिल्मों के दौर में ही शुरू हुआ। बम्बई के दो फिल्म निर्माताओं, हरिभाई आर. देसाई तथा बोगिला सी. दबे को बंगलौर काफी अच्छा लगा। वे मैसूर राज्य में अपनी फिल्म के बैठतर दृश्य-स्थलों की तलाश में आए थे। उन्होंने तत्काल यहां एक फिल्म निर्माण कंपनी, लेबोरेटरी तथा स्टूडियो स्थापित करने का फैसला किया। हाथ से चलने वाले कैमरे, बिना छत के बैरक तथा सूरज की सीधी रोशनी यहां दिन भर रहती थी। कुशल फोटोग्राफी उनकी कंपनी का मुख्य विषय होती थी। कलाकारों से कलाबाज होने की उम्मीद की जाती थी।

मैसूर राज्य में बोलती फिल्में बनने से पहले तकरीबन 50 मूक फिल्में बनाई गईं, जिनमें से चालीस 'सूर्य' फिल्म कंपनी ने बनाई। दो फिल्में कर्नाटक के महान साहित्यकार शिवराम करांध ने बनाई।

कन्नड़ की बोलती फिल्में

कन्नड़ की पहली बोलती फिल्म "सती सुलोचना" 1934 में रिलीज हुई। यह फिल्म हिन्दी की पहली बोलती फिल्म "आलमआरा" के बनने के तीन वर्ष बाद बनी। यह अभी तक रहस्यमय है कि बंगलौर में मूक फिल्मों के दौर में भौजूद सूर्य फिल्म कंपनी तथा अन्य कंपनियों ने समय के बदलाव के साथ स्वयं को ढालने के बजाय चुपचाप बोरिया-विस्तर क्यों बांध लिया। यह भी उल्लेखनीय है कि पहली कन्नड़ बोलती फिल्म "भक्त ध्रुव" का निर्माण कन्नड़ निर्माता ने किया जबकि कन्नड़ की पहली रिलीज हुई बोलती फिल्म "सती सुलोचना" का निर्माण एक मारवाड़ी चमनलाल

डोंगाजी ने किया। इसका निर्माण तेलुगु वी. वी. राव ने किया। दोनों फिल्मों की शूटिंग कर्नाटक से बाहर की गई। एक की शूटिंग कोल्हापुर में और दूसरी की बम्बई में की गई, क्योंकि बंगलौर में बोलती फिल्मों की शूटिंग के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। हालांकि दोनों फिल्में बावस आफिस पर सफल रहीं किन्तु इसके बावजूद अन्य कन्नड़ फिल्मों के निर्माण का कोई चिन्ह नजर नहीं आया जबकि तेलुगु, तमिल तथा हिन्दी फिल्मों की स्थानीय बाजार में बाढ़ सी आ गई। पूरे दक्षिण भारत में बंगलौर फिल्म वितरण गतिविधियों का केन्द्र बन चुका था। तीसरी कन्नड़ बोलती फिल्म बनने में तीन वर्ष लगे। कन्नड़ में पहली सामाजिक फिल्म "संसार नौका" बनाने का श्रेय कन्नड़ को गया। यह फिल्म इस क्षेत्र में ऐसे कई कलाकारों और फिल्म निर्माताओं को लेकर आई जो कल के नेता साबित हुए। इनमें एच. एल. एन. सिन्हा, वी. आर. पांथुलु तथा एम. वी. राजम्मा शामिल हैं। कोयम्बटूर के राजगोपाल चेतियार ने सालेम में ये फिल्म बनाई। इस फिल्म ने न केवल कन्नड़ बाजार बल्कि तमिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश में भी तूफान मचा दिया। निर्देशक एच. एल. एन. सिन्हा रातोंरात मशहूर हो गए।

उल्लेखनीय प्रसंग

राज्य में पहली बोलती फिल्म का स्टूडियो पूरी तरह से स्थानीय प्रयास से स्थापित हुआ। इसका निर्माण 1936 में यातायात नियंत्रक वी. आर. थिम्मा ने किया, किन्तु इसकी आयु बेहद छोटी रही क्योंकि स्टूडियो मालिक की दूसरी फिल्म "राजासूय वज्र" एक हादसा बनकर रह गई। हालांकि यह सच है कि स्टूडियो का निर्माण व्यर्थ नहीं गया। इसने कन्नड़ सिनेमा को तकनीशियन टी. द्वारकानाथ तथा संगीत निर्देशक पद्मनाभा शास्त्री दिए।

केवल एक असफल फिल्म "पूरन्दरदास" 1937 में बनी। उसके बाद कन्नड़ सिनेमा 1941 तक गहरी नींद में सो गया। 1941 में उद्यमी गुब्बी वीरन्ना ने बढ़े पैमाने पर "सुभद्रा" का निर्माण कर इस नींद को तोड़ा। यह फिल्म

उन्होंने तेलुगु के जाने-माने निर्देशक पी. पुलिल्या के साथ बनाई। पूना में बनी इस फिल्म ने बाक्स आफिस पर धमाका किया। इसी वर्ष एक अन्य फिल्म “बसंतसेना” बनी जिसमें प्रसिद्ध कलाकार आर. नगेन्द्र राव, एम. वी. सुब्बैया नायडू तथा लक्ष्मीबाई ने मुख्य भूमिका निभाई। यह भी एक बेहतर फिल्म सावित हुई तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी सफल रही। इस फिल्म के साथ ही कन्नड़ स्क्रीन पर पहला म्यूजिक डिस्क आया।

1942 में बनी सामाजिक फिल्म “जीवन नाटक” एक अन्य यादगार फिल्म सावित हुई। इसमें मुख्य भूमिकाएं कैम्पाराज उर्स, शांता हुबलीकर, गुब्बी वीरन्ना तथा वी. जायम्मा ने निभाई। इस फिल्म के डायलॉग जाने-माने साहित्यकार ए. एन. कृष्णा राव ने लिखे किन्तु फिल्म का निर्देशन एक बार फिर गैर-कन्नड़ वाहब कश्मीरी ने किया। 1943 में कन्नड़ की पहली महिला फिल्म निर्माता मैदान में आई। यह महिला प्रसिद्ध कलाकार एम. वी. राजम्मा थीं, जिन्होंने “राधा, रमन” का निर्माण किया।

इस अवधि की सबसे महत्वपूर्ण बात कई थियेटर कलाकारों का सिनेमा की तरफ आना था, जिस दोनों क्षेत्र समृद्ध हुए। एक रोचक तथ्य यह भी है कि उन दिनों के कई कन्नड़ फिल्म कलाकारों ने तमिल तथा तेलुगु फिल्मों में नियमित रूप से काम किया तथा कन्नड़ फिल्में पूना, कोल्हापुर, कोयम्बटूर, सालैम तथा मद्रास जैसे स्थानों पर बननी जारी रहीं।

चालीस के दशक में दो महत्वपूर्ण घटनाएं हुई—मैसूर में 1944 में नवज्योति स्टूडियो की स्थापना तथा 1947 में मैसूर में ही महात्मा पिक्चर्स की स्थापना। नवज्योति स्टूडियो एक आवासीय कालोनी “सरस्वतीपुरम” में नारियल के बागान में स्थापित किया गया जहां मैसूर विश्वविद्यालय के कई प्रोफेसरों तथा लेक्चररों के रहने से शैक्षिक माहौल था। हालांकि उन लोगों को अपनी कालोनी के बीच स्टूडियो का निर्माण अच्छा नहीं लगा किन्तु वे केवल बड़वड़ाने के अलावा और कर भी क्या सकते थे। यह स्टूडियो पूरी तरह से कन्नड़ के एक समृद्ध यातायात अनुबन्धक जी. आर. रमय्या

के प्रयास से स्थापित हो पाया। उनके नौ सालोंदरारे। तभी इस स्टूडियो को “नवज्योति” नाम दिया गया। शुरू में स्टूडियो डगमगाने की स्थिति में रहा। धीरे-धीरे उसने अपने पैर जमाए। इसके दोबारा डगमगाने की स्थिति आपूर्ति से पहले ही 1963 में स्टूडियो यहां से हटा दिया गया।

स्टूडियो में पहली फिल्म “कृष्णलीला” की शूटिंग की गई जिसे पूरा होने में तीन वर्ष लगे। डा. शंकर सिंह तथा डा. विठ्ठल आचार्य, जो महात्मा पिक्चर्स के साझेदार थे। इस फिल्म के रिलीज होने के पश्चात् जबरन फिल्म निर्माण की तरफ धकेल दिए गए। किन्तु इस फिल्म की बदौलत नवज्योति एक भरा-पूरा स्टूडियो बन गया। आश्चर्य की बात यह है कि जब इसने मद्रास के कई कलाकारों तथा निर्माताओं का ध्यान अपनी तरफ खींचा तब मैसूर के ही कई निर्माताओं ने कोयम्बटूर में ही अपनी फिल्में बनाना जारी रखा। स्थानीय निर्माताओं की उदासीनता की वजह से ही “नवज्योति” को बंद करना पड़ा। इस स्टूडियो की स्थापना तब बिल्कुल अतार्किक हो गयी जब कन्नड़ कलाकारों तथा तकनीशियनों ने मद्रास की तरफ अपना रुख कर दिया, जहां कई बड़े उद्योगपति तब तक न केवल बड़े स्टूडियो स्थापित कर चुके थे बल्कि वहां अन्य आधारभूत सुविधाएं भी उपलब्ध थीं।

विशिष्ट पचास का दशक

महात्मा पिक्चर्स ने स्वयं को मैसूर तक ही सीमित करने का फैसला लिया। साझेदारी में विठ्ठलाचार्य ने मद्रास में आए हुए अन्य लोगों के साथ काम शुरू कर दिया। जबकि शंकर सिंह मैसूर के ही होकर रह गए और मरते दम तक अपनी सभी फिल्में वहीं बनाते रहे चाहे उन्होंने उनमें पैसा बनाया या नहीं। हालांकि अधिकतर फिल्मों से उन्होंने पैसा नहीं बनाया।

कन्नड़ फिल्मों का निर्माण मैसूर की बजाय मद्रास में ज्यादा तेजी से होने लगा तथा पचास के दशक में 70 अन्य फिल्में सूची में शामिल हुई। ये दशक कई कारणों से विशिष्ट रहा। जैसे कि 1954 में इस क्षेत्र में अभिनेता राजकुमार का अपनी यादगार फिल्म “बेदरा

कत्रपा” के जरिए प्रवेश, मैसूर में दूसरे स्टूडियो “प्रीमियर” का निर्माण, आर. नागेन्द्र राव, वी. आर. पन्थुलु, कैम्पाराज उर्स तथा वी. एस. रंगा द्वारा अपना स्टूडियो स्थापित करना, प्रसिद्ध निर्देशकों जैसे के. आर. सीताराम शास्त्री, वाई. आर. स्वामी, टी. वी. ठाकुर तथा अन्य लोगों का प्रवेश। इस दशक में कन्नड़ में कुछ ऐसी फिल्में बनीं जो चर्चा का विषय बनीं जैसे “जंगमोहिनी”, “जिथकफाला”, “गुनसागरी”, “बेदरा कात्रपा”, “राजा विक्रम”, “जलदुर्गा”, “आदर्श साथी”, “महाकवि कालिदास”, “रलगिरी रहस्य”, “स्कूल मास्टर” तथा “अन्ना थांगी” आदि।

इनमें से अधिकतर फिल्में काल्पनिक, ऐतिहासिक या त्याग पर आधारित थीं, जिनमें थोड़ा-बहुत सामाजिक पुट भी था। यह अवधि पान्थुलु तथा कैम्पाराज उर्स द्वारा दिखाए गए अति उत्साह के लिए भी उल्लेखनीय है, जों अक्सर अपनी सामर्थ्य से बाहर जाकर भी कार्य करते थे। उर्स द्वारा बनाई गई दोनों फिल्में प्रभावशाली थीं, पान्थुलु की “रलगिरी रहस्य” भी प्रभावी थी किन्तु उनकी उल्कष्ट फिल्में “मोदला थेडी” तथा “स्कूल मास्टर” मानवीय आधार पर बनी थीं। नगेन्द्र राव की “जठकाफाला”, ज्योतिषशास्त्र पर आधारित एक प्रभावशाली फिल्म थी तथा “प्रेमदा पुत्री” मानवीय सम्बन्धों पर आधारित एक भावनात्मक फिल्म थी। के. आर. सीताराम शास्त्री की “महाकवि कालिदास” एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा पर आधारित बेहतरीन उपलब्धि थी जबकि “अन्ना थांगी” फिल्म में उनकी प्रतिभा दोबारा देखने को मिली, जोकि एक सामाजिक फिल्म थी। यह आज तक की ग्रामीण आधार पर बनी सवाधिक लूचिकर कन्नड़ फिल्म है।

पचास के दशक में कन्नड़ सिनेमा में सामाजिक जागरूकता की शुरूआत हुई। हालांकि यह जागरूकता सफलता के दशक में भी कम नहीं हुई जबकि साहित्य पर आधारित फिल्मों का नया दौर शुरू हुआ। पचास का दशक स्टार पद्धति के आगमन के लिए भी जाना गया जिसके साथ तीन सदाबहार कुमारों—राजकुमार, कल्याण कुमार तथा उदय

कुमार का अगले दशक तक प्रभुत्व रहा। इस दशक में ही बी. सरोजा देवी, हारिनी, लीलावती, मौनावती तथा संध्या (जयललिता की माझी) जैसी उच्च कोटि की हीरोइनों ने कन्नड़ सिनेमा में प्रवेश किया। ये सभी साठ के दशक तथा उसके बाद भी कन्नड़ सिनेमा पर छाई रहीं। 1956 में कर्नाटक को राज्य का दर्जा मिला इसके साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में कन्नड़ लोगों की इच्छाएं भी बलवती हुई। कन्नड़ फिल्म उद्योग भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहा। प्रीमियर स्टूडियो स्थापित करने का साहस करने वाले श्री एम. एम. बसवाराजिहा प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने फिल्म उद्योग की बढ़ोत्तरी के लिए राज्य सरकार को ज्ञापन दिया। ज्ञापन में राज्य के भीतर बनने वाली कन्नड़ फिल्मों के लिए अनुदान योजना शुरू करने की अपील की गई ताकि ये उद्योग अपनी जन्मभूमि पर पूरी तरह से फल-फूल सके।

डब कन्नड़ फिल्मों पर प्रतिबन्ध

साठ का दशक कई कारणों से महत्वपूर्ण रहा। पचासवें दशक के अंतिम वर्षों में कन्नड़ आंदोलन के पश्च में माहौल बनना शुरू हो गया था जिसने साठ के दशक में शक्तिशाली रूप ले लिया।

साथ ही दूसरी भाषाओं से डब होने वाली फिल्मों की भी कन्नड़ बाजार में बढ़ आ गई, जिससे देशी कन्नड़ सिनेमा को खतरा पैदा हो गया। जो जाहिर है संसाधनों तथा समृद्धि के मामले में डब फिल्मों के सामने नहीं ठहर पाती थीं। डब फिल्मों में अधिकतर पौराणिक कथाओं या एक्शन पर आधारित थीं। इस आंदोलन का नेतृत्व बाद में ए. एन. कृष्णाराव तथा एम. रामामूर्ति जैसे सम्मानीय व्यक्तियों के हाथों में आया, जिसके बाद कुछ ही समय में पूरे राज्य में यह आंदोलन फैल गया। पहला लक्ष्य डब कन्नड़ फिल्मों पर रोक लगाना था जिन पर शीघ्र ही रोक लगा दी गई। तब से कन्नड़ में कोई डब फिल्म दिखाने की इजाजत नहीं है।

दूसरी भाषाओं से कन्नड़ में फिल्में डब होने की बढ़ती प्रवृत्ति से कन्नड़ कलाकारों तथा तकनीशियों को भारी धक्का लगा। इनमें

कई बेरोजगार हो गए। इन्हें हारकर अपना एक संगठन बनाना पड़ा और पूरे कर्नाटक में स्टेज पर नाटक करना शुरू किया। यह प्रयोग इस हद तक सफल रहा कि संगठन ने आपसी सहयोग से फिल्म बनाने के विचार को भी उचित समझा। संगठन ने पैसा बनाने के उद्देश्य से ऐतिहासिक फिल्म “राणधीर कंटीखा” बनाई, किंतु वह यह जुआ हार गए। तत्पश्चात् आगे के कार्यक्रमों को रोक लिया गया। उन्होंने संस्था को भी और आगे बनाए रखने की विशेष आवश्यकता महसूस नहीं की क्योंकि डब फिल्मों पर पूरी तरह से रोक लगाने के पश्चात् फिल्म निर्माण के कार्य में तेजी आ गई। इस दशक में 200 से अधिक फिल्में बनीं।

आर्थिक सहायता योजना

इसी दशक में राज्य सरकार ने राज्य के अंदर बनने वाली सभी कन्नड़ फिल्मों के लिए न केवल आर्थिक सहायता योजना शुरू की बल्कि फिल्म निर्माण के विभिन्न क्षेत्रों में उत्कृष्ट उपलब्धि के लिए वार्षिक पुरस्कारों की योजना भी शुरू की। इन दो योजनाओं से राज्य में फिल्म निर्माण के बातावरण में नाटकीय परिवर्तन आया। हालांकि अनुदान योजना उद्योग के सभी क्षेत्रों पर लागू नहीं थी। अभी भी कुछ फिल्म निर्माता, खासतौर से जो मद्रास में बस गए थे और मद्रास का लालच नहीं छोड़ पा रहे थे तथा बंगलौर तथा मैसूर में उपलब्ध सुविधाओं पर भी विद्यार नहीं कर पा रहे थे। उनके लिए श्वेत श्याम फिल्म के लिए पचास हजार रुपए का अनुदान तथा एक लाख रुपए रंगीन फिल्म के लिए विशेष आकर्षण नहीं थे। इस पर लोगों के विचारों में पर्याप्त मतभेद था।

ऐसा भी है कि कर्नाटक में उपलब्ध सुविधाएं इतनी खराब थीं, मैसूर का प्रीमियर स्टूडियो एक आलीशान स्टूडियो था जहां श्वेत श्याम फिल्म की लेबोरेट्री मौजूद थी जबकि बंगलौर में अनुदान योजना की शुरूआत के बाद उसके जवाब में नए स्टूडियो के निर्माण के लिए प्रयास चल रहे थे। लेकिन जो समझ में नहीं आ रहा था वह था राज्य के भीतर

पूरे उद्योग का विकास, जो न तो तत्काल हो सकता था और न ही चमत्कारिक ढंग से। साठ के दशक में 1964 में बी. एस. रंगा की यादगार ऐतिहासिक फिल्म “अमरशिल्पी जकनाचार्य” रिलीज होने के साथ कन्नड़ सिनेमा में रंगीन फिल्मों की शुरूआत हुई। तत्पश्चात् कन्नड़ में दूसरी रंगीन फिल्म छह वर्ष बाद बनी। इसी बीच उत्ताही निर्देशकों की जोड़ी डोटल भगवान ने “जेदरा बाले” फिल्म से कन्नड़ स्क्रीन पर जेम्स बांड शैली की फिल्मों की शुरूआत की। बाद में इसी विषय पर “आपरेशन जेक्याट” नाम से रंगीन फिल्म बनी। इससे पहले भी कई हाथ से बनी रंगीन फिल्में बाजार में आईं, किन्तु इनसे कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया।

साठ के दशक में पीढ़ी-दर-पीढ़ी समर्पित तथा सूचनात्मक फिल्म निर्माताओं जैसे पुताना कनागल, एन. लक्ष्मीनारायण, दोराई-भगवान, एम. आर. विट्ठल, के. एस. एल. स्वामी (रावी) तथा ए. सी. नरसिंह मूर्ति ने कन्नड़ स्क्रीन पर अपनी पहली-पहली फिल्मों के साथ ही धमाके से प्रवेश किया, जिन्होंने काफी लाभ कमाया। पुट्टना की “बैली मोदा”, लक्ष्मीनारायण की “नांदी”, विट्ठल की “नन्दादीपा”, दोराई-भगवान की “जेदरा बाले”, रवि की “युगुदीया” तथा नरसिंह मूर्ति की “संध्याराग”, ये सभी सामाजिक फिल्में थीं तथा फिल्म निर्माण की तरफ उनका नजरिया एकदम तरोताजा था। हालांकि कन्नड़ सिनेमा में सामाजिक अंश को समर्हित करने में लम्बा समय लगा।

वर्ष 1961 उल्लेखनीय रहा क्योंकि इस वर्ष एक उपन्यास पर आधारित पहली कन्नड़ फिल्म “करुनिये कुटुम्बादा कानू” बनी। किंतु 1966 में “सन्ध्याराग” बनने के बाद ही इस प्रवृत्ति को गति मिली। उसके बाद पुट्टना की “त्रिवेणी” उपन्यास पर आधारित सनसनीखेज फिल्म “बैली मोदा” ने काफी सफलता अर्जित की। उसके बाद साहित्य पर आधारित फिल्मों की बढ़ आ गई जैसे “चन्दावालिया धोटा”, “मिस लीलावती”, “चक्रातीरया”, “सर्वमंगला”, “हानेले चिगुरीडागा”,

“युआले”, “इरादू मुखा” काफी सफल रहीं। इन फिल्मों ने पारिवारिक दर्शकों के दिलों में अपने लिए जगह बनाई। ये फिल्में वास्तविक जीवन के बेहद करीब थीं, लेकिन इस दशक में कुछ अन्य महत्वपूर्ण फिल्में भी बनीं जैसे-“भक्त कनकदास”, “किटूर रानी चन्नमा”, “विजया नगरादा विरपुत्रा”, “संत तुकाराम”। कुछ ऐतिहासिक तथा समर्पण पर आधारित फिल्में थीं। “बेरेया जीवा”, “बेटाडा हुती”, “सुबा सास्ती”, “ठुगुदीपा”, “नाकारे आदे स्वर्ग”, “बांगरादा हुवु”, “प्रेमाकु परमिते”, “मानिक मागा”, “नामा मकालु” तथा “मेयर मुठाना” कुछ सामाजिक फिल्में थीं। यह एक और दशक था जिसमें राजकुमार की फिल्में और उनके जीवन पर पहला सैल्युलॉयड संग्रह तैयार किया गया। इस फिल्म को “नटसर्वभौमा” नाम दिया गया। उनकी सौवीं फिल्म के पूरा होने पर उनके प्रशंसकों ने उन्हें यह नाम दिया था।

सत्तर का दशक

सत्तर का दशक भी विभिन्न कारणों से महत्वपूर्ण था। इस दौरान 346 फिल्मों का निर्माण हुआ। बंगलौर में तीन और स्टूडियो भी बनाए गए। ये थे - चामुंडेश्वरी, जिसे कोयम्बटूर के प्राचीन राजीराज स्टूडियो से अलग करके बनाया गया था; कांतीरवा, इसका निर्माण फिल्म उद्यमियों के एक दल ने संयुक्त रूप से किया था; अभिमान, जो अपने में एक निराला स्टूडियो था, जिसका निर्माण थी। एन. बालाकृष्णा ने सबके थोड़े-थोड़े योगदान, यहां तक कि अपने प्रशंसकों से प्रति व्यक्ति एक-एक रूपये तक का चंदा इकट्ठा कर किया था। वर्तमान में चामुंडेश्वरी में दो भव्यकर आंग दुर्घटनाएं होने के कारण इसके शूटिंग मंचों को बंद कर दिया गया है। अब इसमें केवल स्टेट-आफ-द-आर्ट कम्प्यूटराइज्ड रिकार्डिंग, डिबिंग तथ संपादन की सुविधाएं उपलब्ध हैं। “कांतीरवा” का नियंत्रण राज्य सरकार ने प्रमुख हिस्सेदार होने के नाते अपने

हाथ में ले लिया है तथा ‘अभिमान’ को जोकि अब निष्क्रिय सा हो गया है, क्योंकि इसके संस्थापक बालाकृष्णा कैसर की बीमारी के बाद हाल में दिवंगत हो चुके हैं, को राज्य सरकार ने सहायता देकर फिर से सक्रिय करने का विचार बनाया है। यह एक तरह से उनके प्रति राज्य सरकार की सच्ची श्रद्धांजलि होगी क्योंकि स्व. बालाकृष्णा की हार्दिक इच्छा थी कि वे “अभिमान” को कन्नड़ सिनेमा का गौरव बनाएं।

सत्तर के दशक में इस उद्योग में आरती के अलावा विष्णुवर्धन, अनंत नाग, लोकेश तथा स्व. शंकर नाग जैसे उत्कृष्ट कलाकारों ने प्रवेश किया। उन्होंने विभिन्न प्रकार के किरदार निभाए और बार-बार यह प्रदर्शित किया कि अगर कन्नड़ सिनेमा में बेहतर निर्देशक आए होते तो उन्होंने इससे बेहतर कर दिखाया होता। फिर भी यह दशक कन्नड़ सिनेमा के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी दौरान लीक से हटकर बनने वाली फिल्मों का दौर शुरू हुआ जोकि आज भी कई कमियों के बावजूद कन्नड़ सिनेमा के लिए गर्व की बात मानी जाती है। 1970 में “संस्कार” बनाई गई जोकि वास्तव में युगनिमात्री थी। इसके बाद “वंशरक्षा”, “संकल्प” (अनंतनाग द्वारा निर्मित), “काडू”, “कंकना”, “हमसागीथे”, “मुकित”, “पल्लवी”, “कानाकोटे”, “घटश्रद्धा”, “चितेगू चिंते”, “अबाचूरिना”, “पोस्ट आफिस”, “काडू कुदुरे”, “स्पंदन”, तथा “सावित्री”, जैसी युगांतकारी फिल्में बनीं। इनमें से अधिकांश ने पूरे देश की कला फिल्मों में प्राण फूंक दिए तथा कई पुरस्कार भी प्राप्त किए। इनका प्रदर्शन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुआ और इससे कन्नड़ सिनेमा उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हो गया। गिरीश करनाड, बी. वी. कारंथ, पट्टाभिराम रेडी, जी. वी. अच्युत, गिरीश के सरावल्ली, एन. लक्ष्मीनारायणन, एम. एस. संथ, चन्द्रशेखर कंबार, टी. एस. रंगा, वी. आर. के. प्रसाद, बारागुर रामचंद्रप्पा तथा पी. लोकेश जैसे तेजस्वी फिल्म निर्माता इस

दशक में छाए रहे।

इसी समय कुछ मनोरंजक व्यावसायिक फिल्में भी बनीं, जैसे - पुट्टना की “पोजे पूजे”; “श्रेपन्जरा”, “नागरा हाबू “एदाकल्लू गुड़डाडा मेले”, “उपासना”, “बिल्ली हैंडथी”, तथा “कथा संगम”; सिछलिंगा की बंगरादा मनुष्या” तथा “भूतैयाना मागा आयु”; दोरई भगवान की “बयातू दरी”, “कस्तुरी निवास” तथा चंदनाडा गोम्बे”; बी. आर. पन्थुलू की “कृष्णादेवरैया”; आर. एन. कृष्णप्रसाद की “नगुवा हुबू”; वाई.आर. स्वामी की “सेपैय रामू”; विजय की “गंधाडा गुडी”, “म्यूरू” तथा “सनदी अप्पना”; हुन्सुर कृष्णामूर्ति की “भक्त कुम्बार” तथा “बाबरुवहाना”; एम. आर. विट्ठल की “प्रोफेसर हुचूर्या”; रावी की “भाग्य ज्योति”; काशीनाथ की “अपुरिचिता”; एस. वी. राजेन्द्र सिंह बाबू की “नागराहोते”; बालू महेन्द्रा की “कोकिला”; गीतप्रिया की “होम्बसिलू”; वी. सोमशेखर की “शंकर गुरु”; मारुति शिवराम की “प्रसंगदा गेंदे थिम्मा”; वधीराज की “दंगेयेड्डा मक्कालू”; विजय की “हुलिया हलीना मेबू” तथा गीतप्रिया की “पुतानी एजेंट - 1,2,3”। ये फिल्में इस दशक की ज्यादा महत्वपूर्ण फिल्में मानी गईं। ये सभी बाक्स आफिस की तड़क-भड़क से मुक्त थीं। इतना ही नहीं इन फिल्मों ने कन्नड़ फिल्म दर्शकों में शालीन सिनेमा के प्रति रुचि भी विकसित की।

इसी दशक के दौरान ए. वी. शेषगिरी राव द्वारा निर्देशित अत्यंत सफल फिल्म “सोसे धंडा सौभाग्या” भी बनी। यह पहली सिनेमास्कोप कन्नड़ फिल्म थी। इसके बाद एक अन्य श्वेत श्याम सिनेमास्कोप फिल्म “ओंडू प्रेमदा कथे” बनी जो कि बाक्स आफिस पर सफल नहीं हो पाई।

अस्सी का दशक इतना उत्साहवर्धक नहीं था। राज्य में बनी सभी कन्नड़ फिल्मों को कर में 50 प्रतिशत की छूट देने की राज्य सरकार की उदार नीति से फिल्म निर्माण गतिविधियों में तेजी आई और ऐसा लगा मानो भूसे पर

भी फसल उग आई हो। अंतः यह दशक सभी फिल्म निर्माण गतिविधियों के लिए महत्वपूर्ण रहा।

इस दौरान कन्नड़ फिल्मों की कमियों और अच्छायों के साथ-साथ इनके क्षेत्रवार वितरण की पद्धति भी विकसित हुई। फिल्म निर्माण कलात्मक कार्य से अधिक व्यावसायिक कार्य हो गया क्योंकि क्षेत्र वितरक किसी प्रकार का जोखिम नहीं उठाते थे, इसीलिए सैक्स, हिंसा, अश्लीलता तथा द्विअर्थी संवादों से भरी फिल्में ही खरीदते थे। रचनात्मक फिल्म निर्माता निरुत्साहित हो गए क्योंकि व्यापार माध्यमों ने भी निर्णय कर लिया था कि वे अब इस प्रकार की फिल्मों को और नहीं लेंगे। आर्थिक लाभ की ओर अत्यधिक झुकाव ने कन्नड़ सिनेमा को पूरी तरह अन्य भाषाओं में उसके प्रतिपक्षियों की नकल करने को विवश कर दिया और वे पूर्ण रूप से अपनी मौलिकता खो दैठे। नकल करके फिल्में बनाना उस समय की आम प्रवृत्ति बन गई थी और इसमें कभी-कभी बुद्धि का नितांत अभाव भी देखने को मिलता था। उसी समय राज्य सरकार ने कन्नड़ फिल्मों को दी जाने वाली सहायता राशि बढ़ाकर 2.5 लाख रुपये कर दी, ताकि बाक्स आफिस पर नजर रखने वाले और निर्माता इस क्षेत्र में प्रवेश कर सकें। कन्नड़ सिनेमा की विषय वस्तु रोटोरात बिल्कुल बदल गई। इस उद्योग के ढांचागत विकास में भी अत्यधिक तेजी आई।

उत्तर-च्छाव

इस दशक के पहले पांच वर्षों में फिल्म आदोलन फलता-फूलता रहा तथा अगले पांच वर्षों में इसमें तेजी से गिरावट आई। निर्माताओं और निर्देशकों की नई पीढ़ी ने अपनी फिल्मों में और अधिक सैक्स तथा ग्लैमर भरने के लिए बंबई के सितारों का अधिक संख्या में आयात करने का तरीका

दूंगा। इससे फिल्मों का बजट बढ़ने लगा। रविचन्द्रन जैसे सुपर शोमैन जिन्होंने अस्ती के दशक में एक अभिनेता और निर्देशक के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की, ने “प्रेमलोका” तथा “रनधीरा” दो गजब की फिल्में बनाई। इन दोनों फिल्मों से व्यावसायिक फिल्म निर्माण की अवधारणा ही पूरी तरह से उल्टी-पुल्टी हो गई। लेकिन इससे पहले कि सुपर डुपर का आक्रमण हो लीक से हटकर फिल्में बनाने वाले कन्नड़ सिनेमा ने सत्तर के दशक ती विख्यात फिल्मों की सूची में कुछ और फिल्में जोड़ दीं। ये फिल्में थीं — गिरीश के सरवल्ली की “आक्रमण” और “मुरुदारीगलु”; पी. लकेश की “एलिंदलो बंदावरु”; टी. एस. रंगा की “सावित्री”, नगभरना की “ग्रहण”, “अन्वेषण”, “बैंकर मर गया” तथा “अस्फोट”; प्रेमा कारंथ की “फनियम्मा”; शंकर नाग की “नोडी स्वामी नाविरोदूहीगे” तथा “एक्सीडेंट”; पट्टाभिराम रेड्डी की “शृंगार मासा”; एन. लक्ष्मीनारायण की “बेटाडा हूबू”; उमेश कुलकर्णी की “शंखनाद”; कृष्ण मसादी की “अवास्थे”; सिंगीथम श्रीनिवास राव की “पुष्पक विमान”, बरागुर रामचंद्रप्पा की “सूर्या”; गौरीशंकर की “थेलु सुत्तिना-कोटे” तथा “बैंकियां माले”, सुरेश हेबलिकार की “कादिना बेंकी”, सुनील कुमार देसाई की “थार्का”; ननुन्दे गौडा की “सक्रांति”; नारायणस्वामी की “मधुमासा” तथा दिनेश बाबू की “इदू साध्या”。 इनमें से, सभी कलात्मक रूप से सफल नहीं थीं और इनमें से अधिकतर फिल्मों को वास्तव में आर्थिक हानि उठानी पड़ी; पर इनमें कन्नड़ सिनेमा की आत्मा झलकती रही।

इसी समय इस दशक में कुछ बड़ी बाक्स आफिस पर सफल फिल्मों ने भी अपनां योगदान दिया। इसी दशक में राजकुमार के दो बेटे - शिवराज कुमार और राधवेन्द्र राज-

कुमार टॉप हीरो के रूप में उभर कर आए, जिनकी कई फिल्में सफल हुई और वे स्वतः स्टार बनने के अधिकारी बने। इसी दशक में संवाद फिल्म “पुष्पक विमान” भी बनी। प्रसिद्ध युवा कलाकारों के एक पूरे समूह ने पर्दे पर फिल्मों को सफल बनाया, जबकि संगीत क्षेत्र में कंपोजर हंसालेखा ने सनसनीखेज संस्करण जोड़े। इस दशक में कुछ ऊंचे स्तर की अच्छी फिल्में भी बनीं जैसे “रंगनायकी”, “मलया मरुथा”, “पल्लवी अनुपल्लवी” (इसने मणिरत्नम की पहली फिल्म को प्रसिद्धि दिलाई) तथा “शृंगदा सरदारा” जो इस भाषा की पहली 70-एम. एम. फिल्म थी सफल नहीं हुई और उद्योग में संक्षोभ की लाहर सी फैल गई। नब्बे के दशक के शुरू के वर्षों में “शांति क्रांति”, “मुथिना हारा”, “बन्नाडा गेजे”, तथा “तेजा” जैसी सुपर हिट फिल्मों के साथ भी ऐसा ही हुआ। लीक से हटकर बनने वाली फिल्मों में “माने”, “भुवनज्ञाना देशावाथारा” तथा “नक्काला राजकुमारी” जैसी फिल्में जिनका इस दौर के अंतिम चरण में निर्माण करने का दुस्साहस किया गया, भी असफल हो गईं।

इसी समय सरकारी सहायता में और वृद्धि कर दी गई। अब सभी फिल्मों को चार लाख की सहायता दी जाती है तथा उन फिल्मों को एक लाख रुपया और दिया जाता है जिन्हें विशेषज्ञों और समीक्षकों की समिति द्वारा कलात्मक घोषित किया जाता है। पर फिर भी फिल्मों की गुणवत्ता में निरंतर गिरावट आती जा रही है तथा इस स्थिति में बदलाव की कोई संभावना भी नजर नहीं आती। ऐसा लगता है कि कन्नड़ सिनेमा को अपनी पहचान के लिए नए तरीके से संघर्ष शुरू करना होगा, क्योंकि इसमें चल रहे वर्तमान संकट को कोई भी पसंद नहीं कर सकता। ■

मराठी सिनेमा : कल और आज

◆ सुधीर नंदगांवकर ◆

लेखक का कहना है कि मराठी सिनेमा आज दोराहे पर खड़ा है। इसमें साठ के दशक में तमाशोयी फिल्मों की प्रवृत्ति देखने में आई तो सत्तर का दशक ग्राम्य प्रहसन से परिपूर्ण था, जबकि अस्सी और नब्बे के दशकों के शुरुआती वर्षों में इसमें हास्यास्पद कामेडी का आविर्भाव देखने में आया, फिर भी अंतिम तीन दशक पूर्ववर्ती फिल्म निर्माताओं के स्तर को बनाए रखने में असफल रहे।

भारतीय सिनेमा अब जबकि अपनी सौ साल की विजय यात्रा पूरी कर चुका है तब मराठी सिनेमा का अध्ययन दिलचस्प भी लगता है और शिक्षाप्रद भी, क्योंकि इसने अग्रणी और अंथक प्रयासों से सिनेमा के छोटे से बीज को सींचकर बड़ा किया। बंबई महानगर तो सिनेमा शब्द का पर्यायवाची ही बन गया। यह ब्रिटिश कालोनी वास्तव में देश की सिनेमा राजधानी रही है। यद्यपि मद्रास, कलकत्ता, तिरुअनन्तपुरम, बंगलौर, कटक, तथा वडोदरा जैसे नगर भी आज फिल्म के बड़े केन्द्र बन गए हैं लेकिन फिर भी बंबई का रिश्ता फिल्मों के साथ वैसा ही बना हुआ है जैसाकि एक शताब्दी पूर्व था।

बंबई ही सिनेमा-राजधानी क्यों बना जबकि 1890 के दशक में कलकत्ता में भी बड़े पैमाने पर अंग्रेजों का आगमन हो चुका था। इस प्रश्न का उत्तर अधिकांशतः महाराष्ट्र की सामाजिक परिस्थितियों से मिलता है और यह हमें 17वीं शताब्दी में लैं जाता है जब पुर्तगाली राजा ने बंबई को उपहार स्वरूप ब्रिटेन को दे दिया था तथा वहां की महारानी ने इस छोटे द्वीप को ईस्ट इंडिया कंपनी को अपना व्यापार स्थापित करने के लिए दे दिया था। इस प्रकार बंबई स्वतः ही शेष विश्व के साथ सम्पर्क का माध्यम बन गया और इसने पूरे विश्व में हो रहे परिवर्तनों के लिए देश के द्वारा खोल दिए। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस देश से अपने व्यापार को सुविधाजनक बनाने के लिए औद्योगिक

क्रांति वाले उत्पादों को बेझिङ्क बंबई में लाना शुरू किया। मसाले, कपड़े और बहुत सी अन्य वस्तुएं जो कि इंग्लैण्ड को निर्यात की जाती थीं, इन्हें वहां तक ले जाने के लिए तीव्र परिवहन सुविधाओं की आवश्यकता थी, अतः 1852 तक बंबई में राष्ट्र की पहली रेलवे अस्तित्व में आई। इसके बाद 1857 में तारयंत्र, कपड़ा मिलें तथा बंबई विश्वविद्यालय तथा 1865 में जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट स्थापित किए गए। इन आधुनिक सुविधाओं के कारण एक आम बंबईवासी, नए युग के प्रति खुला दिमाग रखता था।

शाम्बरिक खरोलिका

1880 के आस-पास जब ब्रिटिश एजेंट यूरोप से “मैजिक लैन्टर्न” लाए तब इसके स्लाइस्ड शो बंबई के नव-धनाड्य दर्शकों ने सबसे पहले देखे। समृद्ध बंबईवासियों के घरों पर इसके निजी प्रदर्शन किए गए। मदनराव माधवराव पिटले ने “मैजिक लैन्टर्न” के उपकरण खरबद लिए और इसका निजी प्रदर्शन करना आरंभ कर दिया। पिटले से प्रेरणा पाकर कल्याण के महादेव गोपाल पटवर्धन ने स्वदेशी मैजिक लैन्टर्न शो का विकास किया। उनके पुत्र विनायक ने इसकी स्लाइडें तैयार करने में उनकी मदद की। विनायक ने जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट से पेंटिंग सीखी थी। उन स्लाइडों में क्रिया की भ्राति पैदा करने का प्रेयास पहली बार इन्होंने किया। उन्होंने अपने इस प्रयोग

को संस्कृत का शीर्षक दिया जिससे “मैजिक लैन्टर्न” “शाम्बरिक खरोलिका” बन गया। पुरालेखकीय रिकार्डों के अनुसार “शाम्बरिक खरोलिका” का पहला प्रदर्शन 1892 में जेस्टिस तैलंग के बंगले पर आयोजित किया गया। इस प्रदर्शन की सफलता से प्रेरित होकर पटवर्धन ने एक समय में तीन मैजिक लैन्टर्नों का प्रयोग करते हुए स्लाइडों की क्रिया में और यथार्थता लाने के लिए उपकरण-विकसित किए।

चार वर्ष बाद बंबई में सिनेमा के आगमन के बाद भी “शाम्बरिक खरोलिका” के प्रदर्शन लोकप्रिय रहे। सन् 1902 में महादेव पटवर्धन का देहांत हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् विनायक पटवर्धन ने “सीता स्वयंवर” इत्यादि जैसी नई धार्मिक कहानियों की रचना जारी रखी। तथा 1911 तक “शाम्बरिक खरोलिका” का प्रदर्शन करते रहे। भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार धन्यवाद का पात्र है जिसने आज तक पटवर्धन पिता-पुत्र की सर्जना को सुरक्षित रखा है। इस वर्ष जनवरी में बंबई में आयोजित 26वें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में भी इसका प्रदर्शन उसी समय बजाए गए संगीत और कमेंट्री के साथ किया गया। बंबई में सिनेमा के आगमन के साथ “शाम्बरिक खरोलिका” अंतीत में खो गया। 7 जुलाई 1896 में ल्यूमियर भाइयों ने बंबई के वत्सन होटल में पहली बार सिक्स-वन-शॉट फिल्मों का प्रदर्शन किया। यह पहला प्रदर्शन केवल

ब्रिटिश अधिकारियों के लिए ही प्रदर्शित किया गया था और 14 जुलाई को नावल्टी सिनेमा में इसे भारतीयों के लिए दिखाना शुरू किया गया। इस प्रदर्शन के बाद हरिश्चन्द्र सखाराम भड़वाड़ेकर ने, जिन्होंने फोटोग्राफ से संबंधित सामग्री बेचने की दुकान खोली थी, फिल्म निर्माण का जोखिम उठाने का निर्णय लिया। उन्होंने रालेह भाइयों द्वारा निर्मित कैमरा खरीदा और एक फिल्म “द रेस्लर्स” शीर्षक से बनाई। “रेस्लर्स” प्रसिद्ध पहलवानों के बीच हुए मुकाबले पर बनी थी तथा इसकी शूटिंग भालाबार हिल में हुई थी।

द्वितीय विश्व युद्ध ने मराठी दर्शकों की रुचि को एकाएक बदल दिया। हिन्दी सिनेमा से स्पर्धा तथा मराठी दर्शकों को ताजगी प्रदान करने वाली फिल्में दिखाने की आवश्यकता अनुभव कर वी. शांताराम ने सबसे पहले अपनी फिल्म “शाहिर रामजोशी” में ग्रामीण लोक कला-तमाशा की शुरुआत की। हंसा बाड़कर ने तमाशा बालिका को अंमर-बना दिया।

दादा साहेब टोरेने फिल्म निर्माण का प्रयास करने वाले दूसरे महाराष्ट्री थे। उन्होंने 1912 में एक कहानी पर आधारित मूक फिल्म “पुंडलीक” बनाई। इसकी प्रोसेसिंग और प्रिटिंग लंदन में हुई। यह फिल्म 1913 में रिलीज हुई। दादा साहेब फाल्के की “राजा हरिश्चन्द्र” पहली भारतीय फिल्म थी जिसका निर्माण पूर्णतः अपने ही देश में किया गया था। अतः फाल्के को भारतीय सिनेमा के पिता का सम्मान दिया जाता है। निस्सदैह फाल्के का फिल्म निर्माण समाज के प्रति समर्पित था। उन्होंने सिनेमा का इस्तेमाल समाज को सामंतवाद के चंगुल से मुक्त कराने के लिए किया और उन्होंने साहसपूर्वक समाज को आधुनिक युग की ओर अग्रसर किया। यहाँ तक कि फाल्के ने वार्नर भाइयों की अधिक वेतन वाली नौकरी के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया था। वे फाल्के को अपनी कंपनी के लिए फिल्मों के निर्देशक की नौकरी देना चाहते थे।

फाल्के ने सिनेमा की बेहतरी के लिए अधकृ प्रयास किए। वे स्वयं फिल्म के डिब्ब

को उठाकर महाराष्ट्र के विभिन्न छोटे-छोटे कस्बों में ले जाते थे और गांव वालों को सिनेमा का अर्थ समझाते थे। उन्होंने सिनेमा का आकर्षण पैदा करने के लिए साधारण मैजिक-शो प्रदर्शित किए। स्थानीय हाल में पहले-पहल अशिक्षित ग्रामीण जमा होते थे, बाद में वहाँ दर्शकों की बड़ी भीड़ जमा होने लगी जहाँ वे अपनी फिल्में दिखाया करते थे।

कोल्हापुर के बाबूराव पेटर, देश में अपनी जड़ें जमा रहे फिल्म आंदोलन में प्रवेश करने वाले चौथे महाराष्ट्री थे। बाबूराव का व्यक्तित्व बहुप्रतीपी था। वे अपने आप में एक पेटर ही नहीं थे वरन् उनकी रुचि इंजीनियरिंग, बढ़ी-गिरी, मूर्तिकला में भी थी। वास्तव में उनके अंदर का पेटर स्वयं को वैज्ञानिक युग और उसकी सर्जनात्मकता के आकर्षण से नहीं बचा पाया। चाहे वह घड़ी हो, मोटर हो या कैमरा उन्हें जब भी मौका मिला उन्होंने खोलकर इनका परीक्षण किया। गरीब परिवार के होने के कारण वे विदेशी कैमरा नहीं खरीद पाए तो उन्होंने इसे अपने ही देश में बनाने का निर्णय किया। एक फिल्म को बनाने में शुरू में इन्हें आठ वर्ष का समय लगा। इस कैमरे से पेटर ने अपनी पहली मूक फिल्म “सैरंधरी” 1920 में बनाई। इसके निर्माण के साथ पेटर ने भारतीय सिनेमा को दृश्य के यथार्थवाद में पहुंचा दिया। इसके पांच वर्षों के पश्चात् 1925 में पेटर ने “सदाकारी पाश” बनाई। उन्होंने भारतीय सिनेमा को केवल दृश्य यथार्थवाद और सामाजिक रूप से सतर्क सिनेमा जैसे उपहार ही नहीं दिए बरन् कई प्रतिभावान कलाकार और तकनीशियन, जो बाद में मराठी सिनेमा के स्तम्भ कहलाए, भी उनकी देन हैं। इनमें वी. शांताराम, दामले, फतेहलाल, केशवराव धैवर, भालजी पेंडारकर, बाबूराव पेंडारकर, चन्द्रकांत, नानासाहब सरपोतदार, के. पी. भावे आदि शामिल हैं।

यद्यपि मराठी सिनेमा पहली भारतीय बोलती फिल्म निर्माण का सम्मान पाने में थोड़ा सा चूक गया, परं फिर भी मराठी सिनेमा की

इन प्रतिभाओं ने मिलकर पहली बोलती मराठी फिल्म बनाई। प्रभात फिल्म कंपनी ने पहली मराठी सवाक् फिल्म 1932 में “राजा हरिश्चन्द्र” बनाई। इसका निर्माण हिंदी में भी किया गया और यह देश की पहली द्विभाषी फिल्म बन गई।

बोलती फिल्मों को लोकप्रिय होने में समय नहीं लगा। भालजी पेंडारकर की भगवान कृष्ण पर बनी फिल्म—“श्यामसुंदर” (1933) रजत जयंती मनाने वाली अब तक की पहली फिल्म थी। यह भी द्विभाषी फिल्म थी। अनुभवी शाहू मोदक ने इसमें कृष्ण की भूमिका निर्माई थी।

यद्यपि बहुत-सी अन्य फिल्म कंपनियां थीं फिर भी तीस के दशक में अधिकतर फिल्में प्रभात फिल्म कंपनी ने बनाई थीं, जिसने “अमृत मंथन”, “मानुष”, “संत तुकाराम”, “संत ज्ञानेश्वर” और “कुकु” जैसी उत्कृष्ट फिल्में बनाई, जिन्होंने नए बॉक्स आफिस रिकार्ड स्थापित किए। प्रभात फिल्म कंपनी द्वारा निर्मित फिल्में विषय वस्तु और चलचित्र की दृष्टि से कलकत्ता आधारित नए थियेटरों और बम्बई आधारित बंबड़िया सवाक् फिल्मों से उत्कृष्ट थीं।

मूक फिल्मों के दौर में भी मराठी फिल्म निर्माण की विशिष्टता रहे सर्वोत्कृष्ट उद्यम, निरंतर प्रयोग और नवीकरण सवाक् फिल्मों के समय में भी जारी रहे। वी. शांताराम की “सैरंधरी” पहली रंगीन फिल्म थी। यह 1933 में रिलीज हुई थी। यह फिल्म जर्मनी में तैयार की गई थी। यह विडब्ल्यू ही है कि नई तकनीक अपनाए जाने के बावजूद भी यह फिल्म बाक्स आफिस पर बुरी तरफ विफल हुई। शांताराम ने ही पहली बार “अमृत मंथन” में क्लोज-अप चित्रांकन किया।

मराठी सिनेमा में सामाजिक फिल्मों की भी परंपरा रही। इन फिल्मों में प्रचलित सामाजिक समस्याओं को उठाकर इनका खंडन किया गया। उदाहरण के लिए “कुकु” (हिन्दी में “दुनिया न माने”) में बाल विवाह का चित्रण

किया गया। जबकि “शेजरी” (हिन्दी में “पड़ोसी”) में हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रस्तुत किया गया। प्रभात की “मानुष” (हिन्दी में “आदमी”) न्यूयर्कर्ट्स द्वारा निर्मित “देवदास” का जवाब था। “देवदास” में एक निराश नायक को दर्शाया गया जो कि उसकी प्रेमिका द्वारा उसे छोड़ देने पर नशे का सहारा लेता है जबकि “मानुष” के अंग्रेजी के शीर्षक—“लाइफ इंज फॉर लिविंग” में दोनों फिल्मों का

मदनराव माधवराज पिटेल ने “भैजिक लैन्टर्न के उपकरण खरीद लिए और इसके निजी प्रदर्शन करना आरंभ कर दिया। इन स्लाइडों में किया की आंति पैदा करने वाली तकनीक के विकास के प्रयोगों के माध्यम से कहानी में यथार्थता लाने का प्रयास पहली बार पटवर्धन पिता-पुत्र ने किया।

ठीक उल्टा दिखाया गया है। वस्तुतः मराठी सिनेमा को बंगाली सिनेमा के आचार्य सत्यजीत राय ने भी स्वीकार किया। उन्होंने भारतीय बोलती फिल्मों के पहले दशक पर अपनी टिप्पणी में कहा था—“फिल्म जगत में महाराष्ट्र बंगाल से काफी आगे रहा।”

मराठी सिनेमा में बोलती फिल्मों के पहले दशक की अन्य विशिष्टता कामेडी थी। आज भी मराठी सिनेमा में हंसी-मजाक वाली कहानियों पर फिल्में बनती हैं। किसी भी अन्य क्षेत्रीय सिनेमा में इतनी कामेडी फिल्में नहीं बनीं जितनी कि मराठी में बनी हैं। मास्टर विनायक की “प्रेमवीर”, “ब्रह्मचारी”, “ब्रांडिची बातली की कहानियां” विख्यात हास्य-लेखक तथा मराठी अखबार “मराठा” के सपादक पी. के. अतरे द्वारा लिखी गई। सवाक फिल्मों का पहला दशक सचमुच मराठी सिनेमा के लिए स्वर्ण युग था।

यद्यपि 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ, फिर भी 1940 तक मराठी सिनेमा पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव देखने में नहीं आया। विश्व युद्ध के दौरान कच्चे माल की कीमतें

बहुत बढ़ गई और सरकार ने इसके आयात को पूर्णतः बंद कर दिया। 1940-47 के दौरान हंस, प्रभात, नवयुग जैसी कई अग्रणी फिल्म कंपनियों को दबाव का सामना करना पड़ा। इसके अलावा मराठी फिल्म निर्माताओं को तभी हिन्दी फिल्म उद्योग से कड़ी स्पर्धा का भी सामना करना पड़ा। मराठी फिल्में तेजी से पतन की ओर जाने लगीं। मराठी फिल्म उद्योग की आर्थिक स्थिति और खराब होती चली गई और 1945 में जब विश्व युद्ध समाप्त हुआ उसी वर्ष एक भी मराठी फिल्म का निर्माण नहीं हुआ। प्रभात की “रामशास्त्री”, भालजी पैंटारकर की “सूनबाई”, प्रकाश की “रामराज्य”, जैसे अपवादों को छोड़कर मराठी सिनेमा बाक्स आफिस की सफलता के स्वाद को मानो भूल ही गया।

मराठी सिनेमा के प्रमुख पुनर्जन्मदाता थे—अनंत माने, जिह्वेंने “संगत्या अडका” बनाई। इस फिल्म ने पिछले सारे बाक्स ऑफिस रिकार्ड तोड़ दिए। यह फिल्म फिर से ग्रामीण दर्शकों को जुटाने का प्रयास था।

द्वितीय विश्व युद्ध ने मराठी दर्शकों की लूपी को एकाएक बदल दिया। हिन्दी सिनेमा से स्पर्धा तथा मराठी दर्शकों को ताजगी प्रदान करने वाली फिल्में दिखाने की आवश्यकता अनुभव कर वी. शांताराम ने सबसे पहले अपनी फिल्म “शाहिर रामजोशी” में ग्रामीण लोक कला-‘तमाशा’ की शुरुआत की। हंसा बाड़कर ने तमाशा बालिका को अमर बना दिया। “शाहिर रामजोशी” में बाक्स ऑफिस पर नंजर रखने के साथ-साथ कलात्मक आकर्षण पर भी पूरा ध्यान दिया गया। यह फिल्म काफी सफल रही। तभी बाबूराव पैंटारकर की “जय मल्हार” रिलीज हुई। “रामजोशी” पेशवा युग पर थी जबकि “जय मल्हार” की पृष्ठभूमि ग्रामीण लेकिन समकालीन थी। तमाशा आकर्षण के कारण यह बाक्स आफिस पर सफल हुई तथा इसने अगले दशक के लिए दिशा निर्धारित की।

दुख्योपरांत मराठी सिनेमा के प्रमुख फिल्म निर्माता थे—राजा परांजपे, दत्ता धर्माधिकारी, दिनकर पाटिल और अनुत माने। परांजपे ने 1937 में बाबूराम पेंटर की “सावाकारी पाश” में अभिनेता के रूप में अपनी छवि स्थापित की। 1948 में बलिदान में उन्होंने अपनी

मराठी सिनेमा में सामाजिक फिल्मों की भी परंपरा रही। मराठी सिनेमा में सवाक फिल्मों के पहले दशक की अन्य विशिष्टता कामेडी थी। किसी भी अन्य क्षेत्रीय सिनेमा में इतनी कामेडी फिल्में नहीं बनीं जितनी कि मराठी में बनी हैं।

निर्देशक की छवि बनाई। अपनी दूसरी फिल्म “जिवाजा सखा” से परांजपे एक सफल निर्देशक माने जाने लगे। उन्होंने “पुधाचे पाडल”, “ऊन पाउस”, “लखाची गौशला” जैसी अत्यंत सफल फिल्में भी बनाई। उनकी फिल्में त्रासद-हास्यास्पद प्रकृति की होती थीं।

दत्ता धर्माधिकारी ने फिल्मों में अपनी साख प्रभात फिल्म कंपनी के सह-निर्देशक में रूप में बनाई। प्रभात के बिखराव के पश्चात् धर्माधिकारी ने अपनी स्वतंत्र फिल्म कंपनी, “अल्लाद चित्रा” स्थापित की। उन्होंने “स्त्री जनम ही तुझी कहानी”, “चिमनी पांखारे” और “बाला जो जो रे” जैसे पारिवारिक नाटकों का निर्माण और निर्देशन भी सफलतापूर्वक किया।

पचासवें दशक के प्रारंभिक वर्षों तक हिन्दी और मराठी फिल्मों के बीच स्पर्धा बड़ी तेज हो गई थी। यद्यपि परांजपे, धर्माधिकारी, पी. एल. देशपाण्डेय तथा राम गबाले ने उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण जारी रखा, फिर भी मराठी सिनेमा की स्पर्धा ने मराठी सिनेमा को अपने अस्तित्व के बचाव के लिए संघर्षरत रखा।

यह दूसरा मौका था जब 1958 में अपने अस्तित्व के संघर्ष के लिए मराठी सिनेमा उद्योग को तमाशा से सहायता मिली। मराठी फिल्मों के प्रमुख पुनर्जन्मदाता थे—अनंत

माने, जिन्होने “संगत्या अइका” बनाई। इस फिल्म ने पिछले सारे बाक्स आफिस रिकार्ड तोड़ दिए। यह फिल्म फिर से ग्रामीण दर्शकों को आसानी से जुटाने का प्रयास था। चूंकि इस फिल्म ने ग्रामीण दर्शकों को आसानी से जुटा लिया उत्त: यह निर्माताओं को तमाशा फार्मूला के रूप में मिली एक भेट स्वरूप थी। ग्रामीण दर्शक हिन्दी फिल्मों के प्रभाव से वैसे भी असूते थे। एक और दशक के लिए तमाशा मराठी फिल्मों का पर्याय बन गया।

1960 में महाराष्ट्र राज्य बनाया गया। इसके बाद राज्य सरकार ने सभी मनोरंजन कर हटाकर मराठी नाटक को पुनर्जीवित करने का निर्णय किया। मराठी रंगमच दल जो कि मराठी सिनेमा के आगमन से पूर्णतः बंद हो गए थे, वे अब नए उत्पाद के साथ कार्य करने लगे। मध्यम वर्ग के अधिक-से-अधिक दर्शक अब मराठी नाटकों की ओर आकर्षित होने लगे। इस प्रकार मराठी फिल्मों के दर्शक बहुत कम हो गए। उसी समय शम्पी कपूर की फिल्म “जंगली” ने हिन्दी सिनेमा में नए रंग भर दिये और मराठी के शहरी तथा भद्र दर्शक भी इसकी ओर आकर्षित होने लगे। इन परिवर्तनों से मराठी सिनेमा केवल ग्रामीण दर्शकों तक ही सीमित हो गया। इसके बावजूद अनंत माने विचलित नहीं हुए और उन्होंने “एक गांव बड़ा भंगड़ी”, “केला इशारा जाता जाता” जैसी सर्वोत्कृष्ट तमाशाई फिल्में बनाना जारी रखा। इसके अलावा उन्होंने “मानिनि” जैसा परिवारिक नाटक तथा “अवधाची संसार” और “डोना घदिचा दाव” जैसी कामेडी भी बनाई। इनमें से अधिकतर फिल्में बाक्स आफिस पर सफल रहीं। इसी दौरान तीन अन्य महत्वपूर्ण निर्देशकों के नाम भी उभर कर आए। वे थे – राजदत्त, मधुकर पाठक और राजा ठाकुर। सीमित बजट, सीमित दर्शक और एक ओर हिन्दी सिनेमा तथा दूसरी ओर मराठी नाटक के साथ तीव्र स्पर्धा के कारण मराठी फिल्म निर्माताओं ने अपने प्रयोग लगभग बंद ही कर दिए। यद्यपि हिन्दी सिनेमा में ईस्टमैन कलर का आगमन हो चुका था,

लेकिन किसी ने भी मराठी फिल्मों को इस दिशा में ले जाने का साहस नहीं दिखाया। वी. श्रांतराम ने 1972 में “पिंजरा” बना कर ही इस दिशा में शुरुआत की। उन्होंने स्वयं इसका निर्देशन भी किया। “पिंजरा” जो कि तमाशा और समकालीन ग्रामीण राजनीति का मिश्रण था, काफी सफल रही। इसके बाद धीरे-धीरे मराठी सिनेमा में रंगीन फिल्मों का आगमन होने लगा।

फिल्मों में कामेडी लहर के आगमन का समय मराठी फिल्मों के अनुकूल था। दादा कोंडके ने अपने द्विअर्थी संवादों और प्रहसनों से दर्शकों को गुदगुदाया। कोंडके ने रजत जयंती मनाने वाली लगातार नौ सफल फिल्में बनाने की प्रतिष्ठा हासिल की। उनकी पहली फिल्म “सोगड्या” 1971 में रिलीज हुई। उन्हें शहरी दर्शकों की प्रशंसा पाने में सफलता नहीं मिली। राज्य बनने के पश्चात् महाराष्ट्र

मूळ के फिल्मों के दौर में भी मराठी फिल्म निर्माण की विशिष्टता रहे सर्वोत्कृष्ट उद्यम, निरंतर प्रयोग और नवीकरण सवाक् फिल्मों के समय में भी जारी रहे।

सरकार ने सहकारी आदोलन की शुरुआत की। इससे जो चीनी लॉबी पनपी उसे सरकार से बहुत से लाभ मिले। परिणामतः वित्तीय शक्ति सहित अन्य शक्तियां भी उसके हाथ आ गई।

डा. जब्बर पटेल की “सामना” (1975) में इन नव धनाद्य चीनी सामंतों के पतन की शुरुआत का चित्रण किया गया तथा दर्शकों ने सम-सामयिक सच्चाई पर गहरी चोट करने वाली इस फिल्म का बड़ा आनंद लिया। बर्लिन अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में “सामना” को अधिकृत भारतीय प्रविष्टि के रूप में शामिल किया गया। इसी समय के दौरान मराठी फिल्म निर्माताओं को अहसास हुआ कि उनका अंतिम गढ़-ग्रामीण दर्शक भी हिन्दी सिनेमा की ओर आकर्षित हो चुका है। अब हिन्दी फिल्में प्रदर्शनकारियों में बहुत लोकप्रिय हो गई थीं

और उन्होंने मराठी फिल्मों के प्रदर्शन के लिए सिनेमा हॉल देने से इंकार कर दिया। हिन्दी सिनेमा से स्पर्धा और अधिक कड़ी हो जाने से मराठी सिनेमा के अस्तित्व को तीसरी बार धक्का लगा। तब राज्य सरकार इसके बचाव के लिए आगे आई और उसने नए फिल्म निर्देशकों को उत्तम किस्म की फिल्में बनाने हेतु प्रोत्साहन देने के लिए कर वापसी की योजना शुरू की। इस योजना के अंतर्गत जिन निर्माताओं ने मनोरंजन कर की निर्धारित राशि जमा कर ली थी उन्हें आठ लाख रुपये तक की राशि वापस कर दी गई ताकि वे अपनी अंगती फिल्म शुरू कर सकें। लेकिन इस योजना के कार्यान्वयन से भी स्थिति में विशेष बदलाव नहीं आया और मराठी फिल्म निर्माताओं का हिन्दी फार्मूला फिल्मों की नकल करना जारी रहा।

अस्ती के मध्य में रंगीन टेलीविजन और वीडियो कैसेट रिकार्डरों का युग आया। इस बार हिन्दी सिनेमा उद्योग की पराजय हुई। प्रौद्योगिकी के इन नए उत्पादों ने हिन्दी फिल्म उद्योग के लाभ को हड़पना शुरू किया। इसी समय हिन्दी फिल्में बना रहे महेश कोठारे और सचिन पिलगांवकर मराठी फिल्मों की ओर आकर्षित हुए और उनमें नाम कमाया। कोठारे ने “धुधाका”, “थाराथरत”, “दे दनादन” जैसी फिल्में बनाईः जबकि सचिन ने “नाबरी” मिले नवरात्ला”, “अशी ही बनवाबनवी”, “एका पक्षी एक” फिल्में बनाई। इन फिल्मों ने नए रिकार्ड बनाए। इन फिल्मों की कहानियां शहरी वातावरण पर आधारित थीं लेकिन उन्होंने सभी को आकर्षित किया।

कोठारे और पिलगांवकर की कामेडी से मराठी सिनेमा में प्रमुख चरित्र की पूजा की प्रवृत्ति के साथ एक ऐसी कामेडी लहर आ गई जो 1984 से 1994 तक रही। विजय कोंडके की आंसू बहाने वाली “महरची सादी” (1991) की विस्मयकारी सफलता ने इस प्रवृत्ति पर विराम लगा दिया। अलका कुबाल

(शेष पृष्ठ 74 पर)

उड़िया सिनेमा कल और आज

◆ विष्णुति मिश्र ◆

कोई भी फिल्म उद्योग लोगों के समर्थन के बिना नहीं चल सकता। लेखक का कहना है कि यदि उड़िया सिनेमा को समृद्ध होना है तो उड़िया फिल्म-निर्माताओं को अपने पहचान के संकट से प्रभावी ढंग से निपटना होगा, ताकि विमुख हुए दर्शकों को फिर से आकर्षित किया जा सके।

उड़िया सिनेमा शुरू हुए छः दशक हो चुके हैं। आज जब हम इसके अंतीत पर नजर डालते हैं तो हृदय स्मृतियों और विषाद से भर जाता है। स्मृतियां इस बात की याद दिलाती हैं कि अंतीत में यह कैसा था और विषाद इस बात का होता है कि इसके लिए कुछ किया जा सकता था, जो नहीं किया गया।

भारत में सवाक फिल्मों के आरम्भ होने के मात्र चार वर्षों बाद ही, उड़िया सिनेमा ने बढ़ी आश्चर्यजनक ढंग से शुरुआत की। उड़िया में कभी कोई मूक फिल्म नहीं बनी। 1934 में पहली उड़िया सवाक फिल्म बनी। यह एक धार्मिक फिल्म थी, जिसका नाम था—‘सीता-विवाह’। यह केवल एक व्यक्ति श्री मोहन देव गोस्वामी के साहस और प्रयास का फल था जिन्होंने कई समस्याओं के बावजूद, जिनमें एक पैसे की कमी की समस्या भी थी, अपने सपने को साकार किया। उन्हें पुरी के जगन्नाथ क्लब के सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। ये सभी लोग केवल कुछ वर्ष पूर्व ही बंगला सिनेमा में सवाक फिल्मों के आगमन से काफी उत्साहित थे।

धीमी प्रगति

‘सीता-विवाह’ की शूटिंग कलकत्ता के काली फिल्ज स्टूडियो में हुई। इसके निर्माण पर कुल लागत लगभग चालीस रुपए आई-

रिलीज करने की होड़ लगी रहती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि उड़िया में जो फिल्में बनती हैं, उनकी संख्या काफी कम है। इस बेकार की होड़ के कारण कई ऐसी फिल्में भी पिट गईं जो वास्तव में इतनी बुरी नहीं थीं।

उड़िया में बनी पहली सामाजिक फिल्म का नाम बड़ा ही अजीबो-गरीब था—‘रोल्स 2-8’। इसका निर्माण 1951 में ग्रेट मूवीटोने प्रा. लि. कम्पनी ने किया। लेकिन यह बुरी तरह पिट गई। वास्तव में ‘श्री जगन्नाथ’ के लगभग एक दशक बाद, सामाजिक-पौराणिक फिल्म ‘श्री लोकनाथ’ (1960) को सफलता मिली। पचास के दशक में लगभग आठ फिल्में आई लेकिन कोई भी बाक्स आफिस पर सफल नहीं हो पाई। अब तक सिनेमाघर बनने शुरू हो गए थे और फिल्म निर्माताओं को अब बुमन्तु सिनेमाघरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। अब फिल्म निर्माता अपनी फिल्म की लागत बसूल कर पाते थे लेकिन मुनाफा न के बराबर था। लेकिन मुनाफे की परवाह न करते हुए कुछ लोगों ने उड़िया सिनेमा के प्रारम्भिक दौर में फिल्म निर्माण में रुचि ली। इनमें एक थे—गौरा प्रसाद घोष जो अभिनेता-निर्माता थे। 1956 से 1962 के बीच उन्होंने तीन सफल सामाजिक फिल्में—‘भाई-भाई’, ‘मां’ और ‘लक्ष्मी’ बनाई।

साठ का शानदार दशक

साठ के दशक में जहाँ बीस के लगभग फिल्में रिलीज हुईं वर्षीं सत्तर के दशक में पचास से अधिक फिल्में रिलीज होने का रिकार्ड भंग हुआ और अस्सी के दशक में तो 100 से भी अधिक फिल्में रिलीज हुईं। लेकिन नब्बे के दशक में इनकी संख्या में कमी आई और इसका मुख्य कारण था कि दर्शकों ने इन फिल्मों को नकार दिया था। जहाँ साठ के दशक में अच्छी फिल्में बनीं वर्षीं अस्सी के दशक में फिल्मों के निर्माण में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। 1978 में पहली बार एक साल में दस

से अधिक फिल्में रिलीज हुई।

लेकिन सवाल उठता है कि अस्सी के दशक में फिल्म निर्माण ने जो ऊंचाईयां छुई उसमें नब्बे के दशक में गिरावट क्यों आ गई? क्यों उड़िया सिनेमा की शान कुछ समय के लिए ही रही? इसके कारण स्पष्ट हैं। कोई भी फिल्म उद्योग आम जनता के प्रोत्साहन बिना नहीं बढ़ सकता और यह स्वीकारने में कोई दिक्षिका नहीं होनी चाहिए कि उड़िया सिनेमा लोगों की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा। यही कारण है कि पड़ोसी राज्य प. बंगाल में फिल्म-निर्माण में व्यापक स्तर पर वृद्धि हुई। वहाँ एक वर्ष में लगभग 30 फिल्मों का निर्माण हुआ और सिने-जगत की कई प्रतिभाएं सामने आईं जबकि उड़ीसा में फिल्म-उद्योग केवल एक ही दशक तक समृद्ध रह सका।

बदलता परिवेश

कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयों के बाद, साठ और सत्तर के दशक में अच्छा बदलाव आया। फिल्म वितरण में आने वाली रुकावटों को दूर किया गया। सिनेमाघरों पर पहले कलकत्ता के फिल्म-वितरकों का नियन्त्रण था और वे उड़िया फिल्म निर्माताओं को फिल्म रिलीज करने में तंग करते थे, क्योंकि वितरकों की नजर बॉक्स-ऑफिस पर रहती थी, लेकिन 1970 में विनिर्माताओं, सिनेमाघर-मालिकों और वितरकों की कम्पनी 'ईस्टर्न इण्डिया मोशन पिक्चर्स एसोसिएशन' ने कम्पनी की एक शाखा कटक (उड़ीसा) में भी खोल दी। इसके तहत बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा नगालैण्ड और मणिपुर का क्षेत्र आता था। अब फिल्म बनने के बाद, उसे रिलीज करने की समस्या नहीं थी। इसके अलावा, अब सरकार भी अपनी जिम्मेदारी के प्रति चेती, चाहे देर से ही सही। 1967 में उड़िया फिल्म-उद्योग को लघु उद्योग घोषित कर दिया गया और 1970 में सिनेमाघरों का निर्माण भी इसमें शामिल कर दिया गया। इससे स्थिति में कुछ सुधार हुआ। बाद में, 'ईस्टर्न इण्डिया मोशन पिक्चर्स

एसोसिएशन' की मांग पर राज्य सरकार ने 1976 में उड़ीसा फिल्म विकास निगम की स्थापना की। इसी वर्ष, उड़िया की घहली रंगीन फिल्म 'गापा हेले बी साता' रिलीज हुई। लेकिन उड़ीसा फिल्म विकास निगम की अद्वृशंहरी इलाकों में कम लागत के जनता सिनेमा-हॉल खोलने और कम लागत के ग्रामीण सिनेमा हाल खोलने की स्कीमों की आज कोई चर्चा नहीं है। फिल्म-निर्माण के लिए निश्चित अवधि और कम ब्याज दर का ऋण देने की बात भी कई कारणों से ठप्प पड़ गई। ये कारण हैं—ऋण चुकता न होना, ऋण देने में पक्षपात होना, लाल फीताशाही की दिक्कतें आना और इन सबसे बढ़कर इस बारे में कोई परिपक्व सोच का न होना था।

बाली कॉमेडी और कुछ हद तक आंसू बहाना भी अच्छा लगता था। असल में यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि अधिकतर फिल्में, प्रसिद्ध और लोकप्रिय उड़िया उपन्यासों, नाटकों और कहानियों पर आधारित होती थीं और ऐसी फिल्में दर्शकों का दिल जीत लेती थीं। उन दिनों थियेटर भी काफी लोकप्रिय था और थियेटर ने फिल्मों को न केवल अच्छे अभिनेता और अभिनेत्रियां ही दी अपितु कई ऐसी कहानियां भी दिखाई जो पहले से ही थियेटर के शौकीन लोगों के बीच लोकप्रिय हो चुकी थीं। पचास के दशक से सत्तर के दशक के आरम्भिक वर्षों तक यह प्रवृत्ति जारी रही। लेकिन सत्तर के दशक के अतिम वर्षों में निर्देशकों और निर्माताओं ने उड़िया के सम्पन्न साहित्य की उपेक्षा करके बम्बईया मसाला फिल्मों की फूहड़ नकल शुरू कर दी और इस प्रकार वे उड़िया संस्कृति और उड़िया दर्शकों से दूर होते चले गए।

कलिंग स्टूडियो

भुवनेश्वर के बाहरी इलाके में स्थित कलिंग स्टूडियों का उद्घाटन 1982 में हुआ जबकि इसकी नींव 1960 में रखी जा चुकी थी। इन सालों के दौरान उड़िया फिल्म निर्माताओं को संपादन, डिविंग, रिकार्डिंग और अन्य तकनीकी कार्यों के लिए मद्रास और कलकत्ता के स्टूडियो और प्रयोगशालाओं पर निर्भर रहना पड़ता था। कलिंग स्टूडियो बनने के बाद 16 मिमि., 35 मिमि. और सिनेमास्कोप फिल्मों के निर्माण सम्बन्धी तकनीकी उपलब्ध होने से फिल्मों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई और इससे उड़िया सिनेमा को खासा बढ़ावा मिला। सरकार ने भी अपनी ओर से बढ़ावा देने के लिए सब्सिडी दी और उड़िया फिल्मों का प्रदर्शन आवश्यक कर दिया। यह उड़िया सिनेमा की प्रगति के लिए सहायक सिद्ध हुआ और कुछ ही वर्षों में निर्मित फिल्मों की संख्या बीस से भी अधिक हो गई।

पहचान का संकट

जहाँ मुख्य धारा के व्यावसायिक सिनेमा में पहचान का संकट बना हुआ है, वहाँ उड़िया का समानान्तर सिनेमा मनमोहन महापात्र, नीरद महापात्र और सव्यसाची महापात्र जैसी प्रतिभाओं को सामने लाने में सफल हुआ है।

उड़िया फिल्में चाहे जैसी भी हों उनके रिलीज होते ही यहाँ तक की आसपास के ग्रामीण इलाकों से भी अच्छी खासी तादाद में लोग उन्हें देखने आते थे। चाहे वह साठ का दशक रहा हो, सत्तर का या अस्सी का दशक, इन लोगों को उड़िया बोली में एक अच्छी कहानी, दिल छूने वाला संगीत, ठहाके लगाने-

किन्तु अस्सी का दशक उड़िया फिल्मों के

लिए विभाजक भी सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे दर्शक, 'भसाला' फिल्मों से ऊब गए थे। हालांकि फिल्में तकनीकी दृष्टि से अच्छी होती थीं और श्वेत-श्याम फिल्मों का जमाना लद चुका था। कई निर्देशक, जनता की मांग के नाम पर, फिल्मों में सैक्स और हिंसा का मसाला ठूस रहे थे। इससे पहचान का संकट पैदा हुआ। किन्तु इससे बेखबर निर्माता अपनी फिल्मों में आधिक से अधिक फार्मूला भरते रहे। बम्बई और दक्षिण भारत की कई हिट फिल्मों का उड़िया में पुनर्निर्माण किया गया जिससे पहचान का संकट और गहराता गया।

यह विडम्बना ही है कि उड़िया फिल्मों के शुरू के तीन दशकों में बंगाली निर्देशकों की धूम रही और उन्होंने बड़ी सावधानी से उड़ीसा की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखा। 'ओमोड़ाबारस', 'माणिक जोड़ी',

उड़िया फिल्में चाहे जैसी भी हों, उनके रितीज होते ही यहां तक कि आसपास के ग्रामीण इलाकों से भी अच्छी खासी तादाद में लोग उन्हें देखने आते थे। चाहे वह साठ का दशक रहा हो, सत्तर का या अस्सी का दशक, इन लोगों को उड़िया बोली में एक अच्छी कहानी, दिल छूने वाला संगीत, उहाके लगाने वाली कामेडी और कुछ हद तक आंसू बहाना भी अच्छा लगता था।

'अभिनेत्री', 'मोलजन्हा' और 'का' को राष्ट्रीय और राज्य पुरस्कार मिले। वास्तव में, मंझे हुए निर्देशक मृणाल सेन ने, सुविख्यात लेखक स्व. कालिन्दीचरण पाणिग्रही की प्रसिद्ध कृति पर उड़िया फिल्म 'माटिरा मानुष' का निर्माण कराया। लेकिन जब और उड़िया निर्देशक इस क्षेत्र में कूदे तो उन्होंने अंधाधुंध बम्बईया फिल्मों की नकल शुरू कर दी थी।

कामेडी से फूहड़ता तक

उड़िया फिल्मों में कामेडी का विशेष स्थान था। उन दिनों फिल्म-उद्योग ने कई ऐसे कामेडियन दिए जो अपने बलबूते पर फिल्म को सफल बनाने में सक्षम थे। लेकिन धीरे-धीरे

कामेडी का स्थान, फूहड़ता और अश्लील भाव-भरिमाओं तथा द्विर्यों संवादों ने ले लिया। कुछ फिल्मों में मजाक के नाम पर अश्लील, और घटिया संवाद होते, इनसे सिनेमा-हाल की अगली पंक्ति के दर्शक भले ही प्रसन्न हो जाते लेकिन प्रबुद्ध दर्शक ऐसी फिल्मों रो दूर होते गए।

मधुर संगीत से शोर-शराबे तक

यह परिवर्तन उड़िया फिल्म संगीत में भी देखने को मिलता है। एक समय था जब उड़िया फिल्मों के प्रदर्शन के लंबे समय बाद तक उसका संगीत याद किया जाता था। साठ के दशक की 'श्री लोक नाथ', 'अरुंधती', 'सूर्यमुखी', 'कीए काहर' जैसी फिल्मों के गीत अविस्मरणीय हैं। पुराने संगीत-निर्देशकों में बालकृष्ण, दास और भुवनेश्वर मिश्र जैसे दिग्गज थे। उन्हीं की परंपरा में अक्षय मोहंती, उन्हीं की परंपरा में अक्षय मोहंती,

प्रचास के दशक में लगभग आठ फिल्में आईं लेकिन कोई भी बॉक्स-ऑफिस पर सफल नहीं हो पाई। अब तक सिनेमाघर बनने शुरू हो गए थे और फिल्म-निर्माताओं को अब घुमन्तु सिनेमाघरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। अब फिल्म निर्माता अपनी फिल्म की लागत ही वसूल कर पाते थे।

प्रफुल्लकर, शांतनु महापात्र, राधाकृष्ण भाज, रखात मोहंती आदि का नाम लिया जा सकता है। गीतों में शब्दों का चयन, फिल्मों में गीतों के उपयुक्त स्थान आदि का नियोजन बड़ा ही युक्तिसंगत और उनका फिल्मांकन बड़ा ही भावपूर्ण होता। गीतों को एक प्रकार से फिल्म में पिरो दिया जाता और उनका फिल्म के कथानक से गहरा संबंध होता था।

किंतु आज ऐसा नहीं है। मधुर संगीत या रागात्मकता का स्थान बेसुरेपन ने ले लिया है और कविता का स्थान तुकबंदी ने। संगीत के नाम पर केवल शोर है। यहां भी हिन्दी फिल्मी गीतों की तरह, संगीत के नाम पर कूले

मटकाना मात्र रह गया है। यद्यपि बंबईया फिल्मों में अब फिर मधुर संगीत की वापसी हो रही है और कई फिल्में केवल संगीत के कारण ही हिट हो रही हैं या पिंट रही हैं, लेकिन दुर्भाग्य से उड़िया फिल्मों में स्थिति यथावत है। हर कोई संगीत-निर्देशक बन बैठा है जिसमें लंय तो नहीं, हां ताल भर है। गीतों में भी अश्लीलता आ गई है। फिल्म उद्योग में ऐसे निर्देशकों की भरमार हो गई है जो अपने को स्क्रीन प्ले लेखक से लेकर गीतकार-संगीतकार तक सब कुछ समझते हैं। ऐसे में ताज्जुब नहीं कि संगीत पर बुरा असर पड़ेगा ही। यही नहीं, फिल्म के पाश्व-संगीत के लिए अच्छी समझ की कमी भी खटकती है।

इन सब कारणों से दर्शकों ने यही बेहतर समझा कि हिंदी की फूहड़ नकल देखने से तो अच्छा है कि हिंदी मसाला फिल्में ही देखी

भारत में सवाक् फिल्मों के आरंभ होने के चार वर्षों बाद ही, उड़िया सिनेमा ने घड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से शुरूआत की। उड़िया में कभी कोई मूक फिल्म नहीं बनी। 1934 में पहली उड़िया सवाक् फिल्म बनी। यह एक धार्मिक फिल्म थी, जिसका नाम था - 'सीता-विवाह'।

जाएं। लेखक पहले ही इस बात का जिक्र कर चुका है कि फिल्में रिलीज करने में बड़ी होड़ रही थी और इसका दुष्प्रभाव फिल्म पर पड़ता था। सभी लोग दुर्गापूजा, रौज, गणेश या सरस्वती पूजा के दिनों में फिल्म रिलीज करने की प्रतीक्षा करते हैं। इससे फिल्म के व्यवसाय पर असर पड़ता है।

नए चेहरों की आवश्यकता

एक लंबे समय से उड़िया फिल्मों में नए चेहरों की आवश्यकता महसूस की जा रही है। प्रचास और साठ के दशक के दौरान जब थियेटर का जोर था तब कई अच्छे अभिनेता-अभिनेत्रियां उड़िया सिनेमा को

मिले। लेकिन अब जबकि थियेटर समाप्त हो चुका है और उड़िया जात्रा में अशलीलता की भरमार होने से उड़िया फिल्मों को नुकसान पहुंचा है। दर्शक भी आज यही चेहरे बार-बार नहीं देखना चाहता। प्रशंसात नदा की उग्र हो जाने और श्रीराम पांडा के अभिनय छोड़ देने के बांद से अब सिर्फ एक ही अभिनेता रह गया है—उत्तम मोहंटी। हालांकि कुछ अन्य—मिहिर दास, निहार सामल आदि काफी समय से फिल्मों में हैं किंतु अभी तक जम नहीं पाए हैं। अभिनेत्रियों में भी महाश्वेता बुढ़ापे की ओर अग्रसर है और अपराजिता भी अब युवा नहीं रह गई हैं, तो इनकी भी कमी महसूस की जा रही है। कई निर्देशकों ने गैर उड़िया अभिनेत्रियों को लेकर भी फिल्में बनाई, लेकिन उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। अतः उड़िया सिनेमा को नए चेहरों की बहुत जरूरत है।

जहां मुख्य धारा के व्यावसायिक सिनेमा में पहचान का संकट बना हुआ है, वहीं उड़िया का समानांतर सिनेमा मनमोहन महापात्र, नीरद महापात्र और सव्यसांची महापात्र जैसी प्रतिभाओं को सामने लाने में सफल हुआ है। नीरद महापात्र की 'माया मिरिंग' (1983) को राष्ट्रीय पुरस्कार और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसा प्राप्त हुई, लेकिन यह नीरद महापात्र की अभी तक एकमात्र फिल्म ही है। फिल्म

(पृष्ठ 70 का शेष)

की त्रासद कहानी को देखने के लिए दर्शकों ने इस फिल्म को कई बार देखा।

सिनेमा उद्योग में प्रवृत्तियां अवर्जनीय पहलू होती हैं। मराठी सिनेमा भी इसका अपवाद नहीं था। साठ के दशक में तमाशा फिल्में बनीं जबकि सत्तर का दशक दादा कोडके की ग्रामीण कामेडी और प्रहसन से परिपूर्ण था। अस्सी के दशक और नब्बे के दशक के शुरुआती दौर में हास्यजनक कामेडी का आविर्भाव देखने में आया।

अंतिम तीन दशक पूर्ववर्ती फिल्म निर्माताओं के स्तर को बनाए रखने में असफल रहे तथा फिल्मों की कलात्मक गुणवत्ता में गिरावट

और टेलीविजन संस्थान से निर्देशन के स्नातक, मनमोहन महापात्र 1981 से फिल्में बना रहे हैं और उन्होंने अब तक आठ राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किए हैं। उनकी 'नीरब झौड़',

1950 में "श्री जगन्नाथ" उड़िया की पहली हिट फिल्म साबित हुई। इसका तेलुगु में पुनर्निर्माण हुआ और दक्षिण में यह फिल्म और भी अधिक सफल रही।

जहां साठ के दशक में अच्छी फिल्में बनीं वहीं अस्सी के दशक में फिल्मों के निर्माण में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। 1978 में पहली बार एक साल में दस से अधिक फिल्में रिलीज हुईं।

1961 में उड़िया फिल्म उद्योग को लघु-उद्योग घोषित कर दिया गया और 1970 में सिनेमाघरों का निर्माण भी इसमें शामिल कर दिया गया। इससे स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

'क्लांत' अपराह्न', 'किणी, स्मृति किणी अनुभूति', 'अन्धदिगंत' और 'भिन्न समय' जैसी फिल्मों की सभी ने प्रशंसा की और वह उड़िया कला फिल्म आंदोलन में एक प्रणेता के रूप में स्थापित हो चुके हैं। सव्यसांची महापात्र ने 1987 में 'भूखा' बनाई। यह संबलपुरी बोली में बजनियां जनजाति की पृष्ठभूमि पर बनाई गई फिल्म थी। हालांकि कला-फिल्मों के निर्माण में कुछ और लोगों ने भी रुचि दिखाई है किंतु सिनेमाघरों में इन

फिल्मों को रिलीज करने में आने वाली कठिनाइयों के कारण कला-फिल्म आंदोलन में गिरावट आई है। मनमोहन महापात्र का कहना है कि "पुरस्कारों से सम्मानित होने से इन फिल्मों को दूरदर्शन पर दिखाने में मंदद मिल जाती है और इससे हमारी लागत भी वसूल हो जाती है। इससे यह भी जहिर है कि हम अपनी फिल्में बहुत ही कम बजट की बनाते हैं।" मनमोहन महापात्र अच्छी फिल्में बनाने की लड़ाई जारी रखे हुए हैं जबकि कुछ अन्य निर्माता एक बार चमकने के बाद लुप्त हो गए। कुछ कला फिल्म निर्माताओं ने अपनी फिल्मों में ठें उड़िया लोकाचार को लिया किंतु फिल्में प्रदर्शित न हो सकने के कारण यह हतोत्साहित हो गए।

इस प्रकार उड़िया फिल्मों के छः दशक ऐसे हैं जिस दौरान कई अवसर हाथ से निकले और आज कुछ ऐसा खास नहीं है जिस पर गर्व किया जा सके। आज के इलैक्ट्रॉनिक मनोरंजन के युग में यदि उड़िया सिनेमा को टिके रहना है और उन्नति करनी है तो उड़िया फिल्म निर्माताओं के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह पहचान के संकट को समझे। वास्तव में इस दृष्टि से क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने की आवश्यकता है न कि उसे समाप्त करने की। ■

होता विदूषक फिल्में भी बाक्स ऑफिस पर सफल नहीं हो पाई।

"मराठी सिनेमा आज दोराहे पर खड़ा है। उसे सफल बनाने का कोई तरीका न तो निर्माताओं को नजर आता है और न ही निर्देशकों को। मराठी फिल्मों के निर्माण में भी भारी कमी आई है और महाराष्ट्र जैसे अत्यधिक जनसंख्या वाले महानगर में इसके दर्शक भी नहीं मिलते। दूसरी ओर निर्माण लागत भी अब 30 लाख से अधिक आती है। ऐसा लगता है कि अब इसके अस्तित्व के बचाव की लड़ाई इसके हाथ से निकल चुकी है। ■

तमिल सिनेमा : अतीत और वर्तमान

ए. वी. राजगोपाल

तमिल सिनेमा ने कई उत्तर-चढ़ाव देखे हैं। इसका स्वर्ण युग 1950 तथा 1960 के दशक और 1970 के दशक के कुछ वर्षों का वह समय रहा, जिस दौरान शिवाजी गणेशन, एम.जी.आर और जैमिनी गणेशन की तिगड़ी का प्रभुत्व रहा। लेखक का कहना है इस काल खण्ड में अधिकतर फिल्में रजत जयंती मनाती थीं और लोकप्रिय तमिल फिल्मों को अन्य भाषाओं में फिर से बनाया जाता था।

दक्षिण में सिनेमा का पदार्पण 1916 में हुआ। जब नटराज मुदलियार ने दादा साहेब फाल्के की प्रथम फिल्म “राजा हरिश्चन्द्र” की शैली का अनुसरण करते हुए मूक फिल्म “कीचक वंधम्” का निर्माण किया। तमिल में पहली बार फिल्म “कालिदास” आर्देशिर ईरानी ने 1931 में बनाई। उसी साल उन्होंने “आलम आरा” का निर्माण किया था। “कालिदास” में अभिनय करने के कारण तमिल सिनेमा की पहली नायिका होने का गौरव प्राप्त करने वाली टी. पी. राजलक्ष्मी ने 1936 में “कमला” फिल्म का निर्देशन किया और इस तरह उन्हें देश की पहली महिला फिल्म निर्देशक होने का भी श्रेय प्राप्त है।

पहली तमिल फिल्म के साथ कई दिलचस्प बातें जुड़ी हैं, जिन्हें जानना जरूरी है। यह फिल्म 31 अक्टूबर 1931 को “सिनेमा सेंट्रल थियेटर” में रिलीज हुई और उस समय के लोकप्रिय दैनिक अखबार स्वदेश मित्रण के 29 अक्टूबर के अंक में फिल्म की समीक्षा छपी। इससे पता चलता है कि रिलीज होने से पहले समीक्षा के लिए फिल्म को प्रेस को दिखाने की प्रथा तमिल की पहली फिल्म के साथ ही शुरू हो गई थी। पहली संवाद फिल्म होने के कारण फिल्म के विज्ञापनों में लोगों से कहा गया कि वे इसे “सुनने” के लिए आएं और इस तथ्य को भूल जाएं कि फिल्म मूलतः दृश्य माध्यम है। फिल्म में संवाद तमिल में थे, किन्तु

गाने तेलुगु में थे।

इस शुरुआत के बाद तमिल सिनेमा निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर रहा। पहले पांच वर्षों में ही 100 फिल्मों का निर्माण हुआ।

विशेष पहचान

तमिल फिल्मों की अपनी अलग पहचान रही। प्रारम्भ में फिल्म निर्माताओं ने पौराणिक विषयों पर फिल्में बनाई क्योंकि उनसे पैसा डूबने का खतरा नहीं था। 1936 के अंत तक बनी 100 फिल्मों में से केवल 8 फिल्में सामाजिक विषयों पर आधारित थीं और शेष सभी पौराणिक थीं। उस समय के फिल्म निर्माताओं में इस तरह की फिल्में बनाकर सफलता पाने की कितनी होड़ थी इसका पता इस तथ्य से चलता है कि कई बार एक ही साल में एक ही पौराणिक कथा पर बनी दो-दो फिल्में रिलीज हुईं। इनमें “प्रह्लाददास” और “बल्लीस” (1933), द्रौपदी वस्त्र हरणम्” (1934), “ध्रुव” और “नल्ल-थंगल्स” (1933) तथा “नलयर्नी” (1936) शामिल हैं।

हिन्दी फिल्मों की भाँति तमिल फिल्मों में भी संगीत का प्रमुख स्थान रहा। हिन्दी फिल्म “इन्द्र सभा” (1932) में 17 गाने थे। इसी तरह तमिल फिल्मों में भी काफी गीत हुआ करते थे। उस समय पाश्व-गायन पद्धति नहीं थी, इसीलिए गायक कलाकार ही आगे आते थे और उनका बहुत दबदबा रहता था। जिन

अभिनेताओं ने अपनी मोहक आवाज से दर्शकों को मंत्रमुग्ध किया और सिनेमा को सम्मानजनक स्थान दिलाया, उनमें एम.के. त्यागराज भगावतार, पी.यू. चिनप्पा, टी.आर. मर्हीलिंगम, एम.एम. दण्डपाणि डेसीगर, एम. एस. सुब्बलक्ष्मी और के.बी. सुन्दरबल शामिल हैं।

1944 में त्यागराज भगावतार की फिल्म “हरिदास” ने एक नया रिकार्ड बनाया और वह मद्रास में “ब्रोडेव” थिएटर में 110 सप्ताह तक चली। “मीरा” (1945) फिल्म में, एम. एस. सुब्बलक्ष्मी ने अपनी मधुर स्वर लहरियों से सारे देश का दिल जीत लिया। 1948 में बड़ी एस.एस. वासना (जैमिनी) की भव्य फिल्म “चन्द्रलेखा” ने उत्तर भारत में लोगों को चकाचौंध कर दिया और उससे दक्षिण भारत के फिल्म उद्योग का सिक्का जम गया। यह फिल्म तमिल तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में बनी और विदेशों में इसे रिलीज करने के लिए सब-टाइटल बनाए गए। इसी प्रकार ए. वी. मेयप्पन (ए.वी.एम.) ने बहुत सी सार्थक और बढ़िया फिल्में बनाई तथा ए.वी.एम. वैनर स्वस्थ मनोरंजन का पर्याय बन गया।

स्वतंत्रता आंदोलन में योगदान

तमिल सिनेमा ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपना पूरा योगदान दिया। इस संदर्भ में “इरु सकोधराकोल” तथा “चंद्रमोहन” (1936)

और “त्यागभूमि” (1939) उल्लेखनीय फिल्में हैं। इसके अलावा ऐसी भी अनेक फिल्में बनीं, जिनमें प्रमुख पात्र कहानी में कोई संगति न होने पर भी चर्चे से जुड़े होते थे, गांधी टोपी पहनते थे या सविनय असहयोग आंदोलन से संबंधित संवाद बोलते थे। “माया मायावान” (1938), “बाप्पे मेल” और “जयाकोड़ि” (1939) ऐसी ही फिल्में थीं। स्वतंत्रता आंदोलन का सदैश लोगों तक पहुंचाने में फिल्मों की क्षमता को सत्यमूर्ति, श्रीनिवास शास्त्री, राजाजी, के. संतानम जैसे राष्ट्रीय नेता अच्छी तरह समझते थे, जो इस उद्देश्य के लिए फिल्म माध्यम का उपयोग कर रहे थे।

इन राष्ट्रीय नेताओं का अनुसरण करते हुए स्वतंत्रता के बाद भी राजनेताओं ने यह सिलसिला जारी रखा। द्रविड़ पार्टियों के नेताओं ने अपने राजनीतिक प्रचार के लिए फिल्मों को इस्तेमाल शुरू कर दिया और उसके बाद तमिलनाडु में फिल्में तथा राजनीति एक-दूसरे से अभिन्न हो गए। परंतु इससे तमिल सिनेमा का भला नहीं हुआ क्योंकि फिल्में कथा की बजाय संवाद प्रधान बनने लगीं।

इसके फलस्वरूप कला के रूप में सिनेमा की गुणवत्ता में गिरावट आई। दृश्य माध्यम के रूप में इसका महत्व घटने लगा। फिल्में संवाद प्रधान हो गई और कभी-कभी तो संवाद कहानी की बजाय राजनीति के अधिक निकट होते थे। आक्रोशपूर्ण होने तथा खास अंदाज में बोले जाने के कारण इन संवादों को दर्शकों की खुब वाहवाही मिलती थी। नाटकों में काम करने वाले लोग फिल्मों में आ गए और फिल्में एक तरह से फोटोग्राफ किए गए नाटक मात्र बनकर रह गईं।

गौरव की धापसी

इस पतन के बाद तमिल सिनेमा ने अपना गौरव उस समय पुनः प्राप्त कर लिया जब बी. आर. पंटालु, पी. भीम सिंह, के. बालचंद्र और सी.वी. श्रीधर जैसे दिग्गज फिल्मकारों का

पदार्पण हुआ। बी. आर. पंटालु द्वारा निर्देशित फिल्म “वीरपडिया कथा बोम्मन” (1959) में एक ऐसे जमींदार का चित्रण किया गया जिसने ब्रिटिश शासकों से लोहा लिया। इसमें शिवाजी गणेशन को काहिरा में एफ्रो-एशियन फिल्म समारोह में सुवश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार मिला। उनके द्वारा ही बनाई गई एक और श्रेष्ठ फिल्म थी “कप्पालोटिया थमिज्जान” (1961) जिसमें एक राष्ट्रवादी नेता “चिदम्बरानर” के जीवन का चित्रण किया गया, जिन्होंने ब्रिटिश शासन में समानांतर जहाजरानी कम्पनी का संचालन किया था। पी. भीमसिंह ने सामाजिक विषयों पर अनेक सार्थक फिल्में बनाईं, जो बहुत पसंद की गईं।

के. बालचंद्र ने अपनी फिल्मों में मध्यम वर्गीय समाज और उसकी आंशाओं व आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की। परंतु बालचंद्र क्योंकि रंगमंच से आए थे, अतः उनकी फिल्मों में नाटकों का प्रभाव झलकता

तमिल में पहली सवाक् फिल्म “कलिदास”
आर्देशिर ईरानी ने 1931 में बनाई, विजापुर में लोगों से कहा गया कि वे इसे “सुनने” के लिए आएं और इस तथ्य को भूल जाएं कि फिल्म मूलतः दृश्य माध्यम है। फिल्म में सवाद तमिल में थे किन्तु गाने तेलुगु में थे।

प्रा रम्म में फिल्म निर्माताओं ने पौराणिक विषयों पर फिल्में बनाई क्योंकि उनसे पैसा ढूँबने का खतरा नहीं था। 1936 के अंत तक बनी 100 फिल्मों में से केवल 8 फिल्में सामाजिक विषयों पर आधारित थीं और शेष सभी पौराणिक थीं।

1944 में त्यागराज भगवतार की फिल्म “हरिदास” ने एक नया रिकार्ड बनाया और वह मद्रास में “ब्रोडवे” थिएटर में 110 सप्ताह तक चली।

था। सी.वी. श्रीधर फिल्म कला में माहिर थे। उन्होंने मुख्यतः रोमांस और हास्य प्रधान फिल्में बनाई तथा नई पीढ़ी को आकर्षित किया। फिल्म माध्यम पर उनकी पकड़ अद्भुत थी। उन्होंने “सुमई थगी” नाम की ट्रेजडी फिल्म भी बनाई जो भाव विभोर करने

वाली थी। इस फिल्म में कोई खलनायक नहीं था, परन्तु नायक के मित्रों तथा रिश्तेदारों ने ही अनजाने में उसे सबसे अधिक कष्ट दिया।

श्रेष्ठ काल

1950 और 1960 के दशक तथा 1970 के दशक के कुछ वर्षों को तमिल सिनेमा का श्रेष्ठ काल माना जा सकता है। शिवाजी गणेशन ने अपने चरित्र अभिनय से लगभग तीन दशक तक तमिल सिनेमा पर राज किया। एम.जी. रामचंद्र ने अपनी भूमिकाओं में स्टार बनकर सबको पीछे छोड़ दिया और रोमांटिक भूमिकाओं में जैमिनी गणेशन अद्वितीय थे।

इस युग में बनी तमिल फिल्में 15 से 20 सप्ताह तक चलती रहीं। रजत जयंती मनाना आम बात थी। कहानी के कारण फिल्मों की सराहना होती थी। नए-नए स्टूडियो बने। सफल तमिल फिल्में तेलुगू व अन्य भाषाओं में दोबारा बनीं। तमिल निर्देशकों ने हिन्दी फिल्में भी बनाई और वे काफी सफल रहे। बास्तव में वह तमिल सिनेमा का स्वर्णयुग था। परन्तु अचानक यह युग भी समाप्त हो गया। कहानीकारों का स्थान कहानी विभागों ने ले लिया। इसके साथ ही नए विचारों की कमी दिखाई देने लगी और तमिल सिनेमा पर कृत्रिमता छा गई। मारधाड़ वाली सफल हिन्दी फिल्में तमिल में बनाई जाने लगीं। ये फिल्में नायक, नायिका तथा खलनायक के फार्मूले पर आधारित होती थीं, जिनमें तस्कर खलनायक आखिर में हेलीकाप्टर से देश से बाहर भागने की कोशिश करता है। नायक बढ़िया पश्चिमी सूट पहन कर जन्मदिन का केक काटता और पियानों पर गाना गाता। न तो विषय भारतीय थे और न ही उनका चित्रण भारतीय था। तमिल सिनेमा में विकार आ गया जिसके फलस्वरूप उसके दर्शकों की संख्या घट गई।

उत्थान-पतन

1970 के मध्य में भारती राजा तथा उनकी तरह के अन्य फिल्मकारों ने कमान संभाली।

वे स्टूडियो की चारदीवारी से बाहर निकलकर गांवों में गए। फिल्मों में स्थानीय जनजीवन का प्रमुखता से चित्रण होने लगा। तमिल फिल्म उद्योग का पुनरुद्धार हुआ और ऐसी आशा बनी कि तमिल सिनेमा नई ऊचाइयां लुप्तगण। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा कुछ नहीं हुआ। इन फिल्मकारों ने भी कहानी पर अधिक ध्यान नहीं दिया। शहरी वातावरण का स्थान ग्रामीण वातावरण ने ले लिया और तस्करी करने वाले शहरी खलनायक की जगह गांव के शराबी मुखिया ने ले ली। पृष्ठभूमि की नवीनता बहुत जल्दी गायब हो गई तथा 1980 के मध्य के समय से उंगली पर गिनी जा सकने वाली अच्छी फिल्मों को छोड़ कर तमिल सिनेमा पतन के गर्द में गिर गया। 16 सप्ताह तक चल जाने वाली फिल्म सुपर हिट मानी जाती थी और 10 सप्ताह तक चल जाने पर इसकी घोषणा के इश्तहार लग जाते थे।

इस अंतरिम काल में जो श्रेष्ठ फिल्में बनीं, उनका उल्लेख करना आवश्यक है। जे. महेन्द्र ने “नैंजाथाई किल्लापे” और, “उधीरीपुक्कल” फिल्में बनाईं। इनमें से पहली फिल्म युवा दिलों को प्रभावित करने वाली श्रेष्ठ रोमांस प्रधान फिल्म है जबकि दूसरी फिल्म को कलासिक फिल्मों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है राष्ट्रीय स्तर पर इस फिल्म की उस तरह चर्चा नहीं हुई जैसी कि होनी चाहिए थी। दुर्ई ने “पासी” नाम की असाधारण फिल्म का निर्माण किया जिसमें एक लाचार निर्धन लड़की के दुखपूर्ण जीवन का चित्रण किया गया। बालू महेन्द्रा ने “वीडू” फिल्म बनाई जिसमें घर बनाने के लिए एक कामकाजी लड़की द्वारा उठाई गई मुसीबतों व कष्टों को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया। उन्होंने राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम तथा दूरदर्शन की वित्तीय सहायता से “संध्या रागम्” फिल्म बनाई, जिसमें वृद्धावस्था तथा उससे जुड़ी समस्याओं का कुशल चित्रण किया गया। के. एस. सेतुमाधवन ने “मरुपक्कम्” का निर्माण किया, जिसे स्वर्णकमल मिला। राष्ट्रीय पुरस्कार प्रारम्भ होने के 37 वर्ष बाद किसी तमिल फिल्म को पहली बार यह पुरस्कार मिला था।

इस काल में बनी कमल हासन की दो

फिल्मों का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए, जिनके लिए श्रेय सीधे कमल हासन को जाता है। इनमें एक है “पैसुम पदम” (हिन्दी में “पृष्ठक”) जो मूक फिल्म है और सवाक फिल्मों की शुरुआत के 60 साल बाद बनी और दूसरी फिल्म है “अपूर्व सगोदराकाल” (हिन्दी में “अपूर्व राजा”) जिसमें कमल हासन ने एक बौने के रूप में अविस्मरणीय भूमिका निभाई। ये दोनों फिल्में समीक्षकों व दर्शकों द्वारा समान रूप से सराही गईं। तमिल सिनेमा के सुपर स्टार रजनीकांत की फिल्में बास्त आफिस पर सफल हो रही हैं और उसकी फिल्म आम लोगों का भरपूर मनोरंजन करती है।

इस काल में तमिल फिल्मों की नायिकाओं के मामले में परिवर्तन की भी शुरुआत हुई। पहले तमिल नायिकाएं हिन्दी सिनेमा में जाती थीं और वहां प्रमुख स्थान प्राप्त करती थीं जैसे

या उससे भी कम प्रतिशत फिल्में सफल हो पाती हैं। फिल्म पिटने के डर के कारण फिल्म निर्माताओं में प्रस्तुतीकरण में नवीनता लाने का उत्साह और पहल समाप्त हो गई है और वे त्रिकोणात्मक प्रेम के घिसे-घिटे फार्मूले पर ही फिल्में बनाते रहे हैं, और बहुत सी फिल्मों में आग पर चलना चरम स्थिति का अंग बन गया है। इस समय तमिल फिल्मों की यह दुर्दशा बहुत गंभीर दिखाई देती है।

परंतु इस समूचे निराशाजनक परिदृश्य में एक उत्साहजनक बात यह है कि मणिरत्नम महानंतम निर्देशकों में से एक होकर उभर रहे हैं। अन्य तमिल फिल्मकारों के विपरीत उनका यश और कार्य, भाषा और क्षेत्र की सीमाओं को पार कर गया है। “मौन रागम”, “नायकन”, “अंजलि”, “रोजा” और अब “बम्बई” जैसी सफल तथा श्रेष्ठ फिल्में बनाकर उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि फिल्म माध्यम पर उनकी पूरी पकड़ है। उन्हें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति मिली है।

राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित होने वाला एक और नाम है संगीत निर्देशक ए. आर. रहमान। दक्षिण के किसी भी संगीतकार को इससे पहले इतनी ख्याति नहीं मिली थी। उनके एक गीत की सात अलग-अलग फिल्मों में नकल किया जाना इस कथन की सत्यता सिद्ध करता है कि नकल करना भी रचनाकार की प्रशंसा का एक तरीका है।

तमिल फिल्म उद्योग के लिए यह गर्व की बात है कि उसके एक दिग्गज कलाकार शिवाजी गणेशन को फ्रांस द्वारा “कैवेलियर”, पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। किसी भारतीय कलाकार को पहली बार यह सम्मान प्राप्त हुआ है।

परंतु व्यक्तिगत उपलब्धियों तथा एक या दो व्यक्तियों की महानता से तमिल फिल्म उद्योग के मार्ग व दिशा को नहीं बदला जा सकता। लगता है कि तमिल सिनेमा बिखराव की ओर बढ़ रहा है और उसकी मौजूदा स्थिति को और कुछ भी माना जाए, उसे अच्छा नहीं माना जा सकता। ■

तमिल सिनेमा ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपना पूरा योगदान दिया। स्वतंत्रता आंदोलन का सदैश लोगों तक पहुंचाने में फिल्मों की क्षमता को सत्यमूर्ति, श्री निवास शास्त्री, राजाजी, के. संतानम जैसे वे राष्ट्रीय नेता अच्छी तरह समझते थे जो इस उद्देश्य के लिए फिल्म माध्यम का उपयोग कर रहे थे।

बी. आर. पंटालू द्वारा निर्देशित फिल्म “वीरपंडिया कथा-बोम्मन” (1959) में एक ऐसे जर्मीदार का चित्रण किया गया, जिसने ब्रिटिश शासकों से लोहा लिया। इसमें शिवाजी गणेशन को काहिरा में एफ्रो-एशियन फिल्म समारोह में सर्वश्रष्ट अभिनेता का पुरस्कार मिला।

कि वैजयंती माला, हेमामलिनी, श्रीदेवी आदि। किन्तु इस दौरान रूपिनी, खुशबू, हीरा, नग्मा, और अब मोनीषा के तमिल फिल्मों में काम करने से यह प्रवृत्ति बदल गई है और उत्तर की ये नायिकाएं तमिल फिल्मों में छा गई हैं।

1990 का दशक तमिल फिल्म उद्योग के लिए शुभ नहीं रहा है। साल-दर-साल फिल्मों की संख्या में कमी होती जा रही है। असफलता का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है और वर्ष में 10



1963 में पद्मश्री से सम्मानित महात्मा गान्धी

THE WEST COAST PAPER MILLS LIMITED

Manufacturers off :

"Sudarshan Chakra" Brand quality paper, MICR Cheque Paper, Cheque paper, Azurelaid TSAD, Parchment Paper, Offset Ptg. M.G. White & Coloured Pulp Board/poster, Kraft and other writing and printing paper.

WEST COAST PAPER produced more than 75,000 tonnes of paper annually — Paper of India's many growing needs.

Administrative Office:

Shreeniwas House,
Hazarimal Somani Marg,
Bombay 400 001

Registered Office & Mills at:

DANDELI - 581 325
Dist.: Uttara Kannada (Karnataka)

राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

के. एल. अरोड़ा

लेखक का कहना है कि राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कारों ने देश की सभी भाषाओं में गंभीर और सामाजिक दृष्टि से सार्थक फिल्मों के निर्माण को प्रोत्साहित किया है।

अभियक्ति का सशक्त माध्यम सिनेमा इस

वर्ष अपनी जन्म शताब्दी मना रहा है। इसके साथ ही भारत भी देश में पहली बार फिल्म प्रदर्शन के सौ साल मना रहा है।

आम आदमी के लिए सिनेमा मनोरंजन का एक साधन है। शिक्षाविदों और सामाजिक दृष्टि से जागरूक व्यक्तियों के लिए यह लोगों को शिक्षित करने का एक माध्यम है जबकि विशेषज्ञों के लिए यह मानवीय गतिविधियों के विशिष्ट क्षेत्रों में सूचना तथा प्रशिक्षण देने वाला प्रभावशाली माध्यम है। सिनेमा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सद्भाव और आपसी सूझ-बूझ बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

फिल्म जांच समिति की सिफारिश पर 1954 में भारत सरकार ने कलात्मक, सुरुचिपूर्ण तथा उद्देश्यपूर्ण फिल्मों के निर्माण को बढ़ावा देने के लिए राजकीय पुरस्कार शुरू किये। तब से सर्वोच्च राष्ट्रीय स्तर पर जांच के बाद उत्कृष्ट फिल्मों और इनके निर्माण में योगदान करने वाले व्यक्तियों को पुरस्कार दिये जा रहे हैं। आज यह बात स्वीकार की जाने लगी है कि फिल्मों के लिए राजकीय पुरस्कारों ने देश की सभी भाषाओं में गंभीर और सामाजिक दृष्टि से सार्थक फिल्मों के निर्माण को प्रभावित किया है।

इन पुरस्कारों की शुरुआत काफी साधारण रही। प्रारंभ में राष्ट्रपति के दो स्वर्ण पदक हुआ करते थे जो सर्वोत्कृष्ट फीचर फिल्म और

सर्वोत्कृष्ट वृत्तचित्र को प्रदान किये जाते हैं। इसी तरह सर्वोत्कृष्ट बाल फिल्मों के लिए प्रधानमंत्री की ओर से स्वर्ण पदक तथा उत्कृष्टता प्रमाणपत्र दिये जाते थे। एक वर्ष बाद क्षेत्रीय भाषाओं में संबंध अच्छी फिल्म के लिए राष्ट्रपति का रजत पदक दिया जाने लगा।

इन पुरस्कारों को शुरू किये जाने के बाद से इनके लक्ष्य और उद्देश्य में कई परिवर्तन आए हैं। 1966 में इन पुरस्कारों का नाम बदलकर राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार कर दिया गया। 1968 में कलाकारों और तकनीशियों के लिए अलग से पुरस्कार प्रारंभ किये गये। अभिनय के लिए जो दो पुरस्कार शुरू हुए उनमें से सर्वोत्कृष्ट अभिनेत्री के पुरस्कार को “उर्वशी” और सर्वोत्कृष्ट अभिनेता के पुरस्कार को “भारत” कहा जाता था। लेकिन बाद में ये नाम हटा दिये गये। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासारण होगा कि पहले सर्वोत्कृष्ट अभिनेत्री और अभिनेता पुरस्कार नरगिस दत्त और उत्तम कुमार को दिये गये थे।

फिल्मों के मूल्यांकन के तरीके में भी परिवर्तन हुआ है। कुछ संमय तक बंबई, मद्रास और कलकत्ता में क्षेत्रीय समितियां हुआ करती थीं। दिल्ली स्थित केन्द्रीय समिति इन क्षेत्रीय समितियों की सिफारिशों पर विचार करती थी। लेकिन बाद में यह प्रणाली बंदल दी गयी और अब राष्ट्रीय फिल्म समारोह का निर्णयक मंडल करीब 100 फीचर फिल्मों को देखकर

पुरस्कारों का फैसला करता है। इस तरह की फिल्मों का फैसला आम राय या बहुमत के आधार पर किया जाता है। तब से अब तक पुरस्कारों की संख्या भी कई बढ़ गयी है। 1954 में जहाँ सिर्फ तीन पुरस्कार हुआ करते थे, वहीं आज इनकी संख्या 40 से अधिक हो गयी है।

1975 से पुरस्कारों का दायरा बढ़ा दिया गया। राष्ट्रपति के स्वर्ण पदक के स्थान पर “स्वर्ण कमल” और रजत पदक के स्थान पर “रजत कमल” दिया जाने लगा।

1985 में कुछ और परिवर्तन किये गये। इनमें ये बातें शामिल थीं (1) कुछ महत्वपूर्ण पुरस्कारों की राशि में बढ़ोतारी, (2) नये पुरस्कारों की शुरुआत, और (3) चयन-प्रक्रिया में परिवर्तन। सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने नये नियमों की भी घोषणा की। इस समय करीब चालीस पुरस्कार दिये जाते हैं। उनके अंतर्गत 13 लाख रुपये से अधिक की राशि दी जाती है। 1950 और 1960 के दशक में पुरस्कार जीतने वाली अधिकतर फिल्में भारतीय और हिंदी फिल्में हुआ करती थीं। लेकिन इसके बाद के दशक में बंगला फिल्मों ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। 1980 के दशक में अधिकतर पुरस्कार दक्षिण भारतीय फिल्म निर्माताओं ने प्राप्त किये। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से पुरस्कार किसी विशेष क्षेत्र या भाषा की फिल्मों द्वारा नहीं, बल्कि विभिन्न भाषाओं की फिल्मों द्वारा जीते जा रहे हैं।

सर्वोत्कृष्ट फिल्म का पुरस्कार सिर्फ एक बार किसी भी फिल्म को नहीं दिया गया। ऐसा 1978 में हुआ जब वरिष्ठ फिल्मकार चेतन आनंद फीचर फिल्मों के निर्णायक मंडल के अध्यक्ष थे।

श्री चेतन आनंद ने पुरस्कार के लिए चुनी जाने योग्य प्रेरणादायक फिल्म की ये विशेषताएं बतायी हैं:-

1. इसकी विषय वस्तु अच्छी होनी चाहिए।
2. फिल्म में पटकथा के माध्यम से विषय वस्तु को प्रभावशाली तरीके से प्रतिपादन होना चाहिए।
3. पटकथा का फिल्म में सही तरीके से रूपांतरण होना चाहिए।

श्री चेतन आनंद ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जब फिल्म की कथावस्तु प्रेरणादायक हो और फिल्म-निर्देशक ने कलाकारों, संवादों, दृश्य-अंशों, साउंड ट्रैक, फिल्म-संपादन, रंगों, सेटों, फिल्मांकन-स्थलों, ध्वनि और विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाले साधनों का सही-सही इस्तेमाल किया हो तो निश्चय ही अच्छी फिल्म बनेगी। ऐसी फिल्म महान फिल्मों के गुणों वाली होगी। उसके माध्यम से दर्शकों के साथ सार्थक संवाद स्थापित हो सकेगा। ऐसी फिल्म दर्शकों पर गहरा असर डालेंगी और अपने समग्र रूप में अपने उद्देश्यों को पूरा करेगी।

इसमें जरा भी सदैह नहीं कि जब ऐसी कोई फिल्म बनती है तो उसे उत्कृष्ट फिल्म का पुरस्कार मिलना स्वाभाविक है।

दादा साहेब फाल्के पुरस्कार

दादा साहेब फाल्के पुरस्कार भारत में महान फिल्मकारों को दिया जाने वाला सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय सम्मान है। यह जीवन भर की उपलब्धियों के लिए दिया जाता है। भारतीय सिनेमा को दादा साहेब फाल्के के महान

योगदान की यादगार के रूप में उनके जन्म शताब्दी वर्ष (1969) में भारत सरकार ने यह पुरस्कार शुरू किया था। इसके अंतर्गत नकद राशि, एक शाल तथा पटिका दी जाती है। हर साल दिये जाने वाला यह पुरस्कार फिल्मों से जुड़ी किसी ऐसी हस्ती को दिया जाता है जिसने फिल्म-उद्योग, विशेष रूप से भारतीय सिनेमा के किसी खास क्षेत्र में विशिष्ट योगदान किया हो। जब यह पुरस्कार शुरू किया गया था तो इनाम के तौर पर दी जाने वाली धनराशि सिर्फ 11 हजार रुपये थी। लेकिन 1993 में इसमें और वृद्धि की गयी और यह 40 हजार कर दी गयी। 1984 में इसे बढ़ाकर एक लाख रुपये कर दिया गया।

दादा साहेब फाल्के पुरस्कार विजेता

दुंडिराज गोविंद फाल्के भारतीय सिनेमा के महान अंग्रदूत थे। उन्होंने ललित कला की सातवीं विद्या माने जाने वाले सिनेमा के लगभग हर क्षेत्र के लिए बुनियादी मानक स्थापित किये। वे अपनी फिल्मों के लिए खुद पटकथा लिखते थे। फिल्मों का चित्रांकन, कला-निर्देशन, संपादन और कलाकारों की वेशभूषा का चयन भी वे स्वयं करते थे। यही नहीं, फिल्मों की प्रोसेसिंग, प्रिंटिंग, डेवलपिंग जैसे तकनीकी कार्यों के साथ-साथ वे थियेटर में फिल्मों को दिखाने और उनके वितरण की भी व्यवस्था करते थे। इस हरफनमौला फिल्मकार ने भारत में फिल्म निर्माण की बुनियाद रखी और चलचित्र कला को मनोरंजन की एक विद्या तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का माध्यम बनाया।

देविका रानी	(1969)
बीरेन्द्र नाथ सरकार	(1970)
पृथ्वीराज कपूर	(1971-मरणोपरांत)
पंकज मत्लिक	(1972)
सुलोचना (खड़ी मायरसी)	(1973)
बी. एन. रेड़ी	(1974)
धीरेन गांगुली	(1975)
कानन देवी	(1976)
नितिन बोस	(1977)

राय चंद बोराल	(1978)
सोहाब मोदी	(1979)
पी. जयराज	(1980)
नौशाद अली	(1981)
एल. वी. प्रसाद	(1982)
दुर्गा खोटे	(1983)
सत्यजित राय	(1984)
वी. शांताराम	(1985)
बी. नागिरेड़ी	(1986)
राजकपूर	(1987)
अंशोक कुमार	(1988)
लता मंगेशकर	(1989)
अविकनेनि नामेश राव	(1990)
भालचंद्र पेंडारकर	(1991)
भूपेन हजारिका	(1992)
मजरुह सुल्तानपुरी	(1993)
दिलीप कुमार	(1994)

दादा साहेब फाल्के पुरस्कार सिनेमा के विकास, इसमें नयी बातों के समावेश और इसे बढ़ावा देने में उत्कृष्ट योगदान करने के लिए ही वर्ष दिया जाता है।

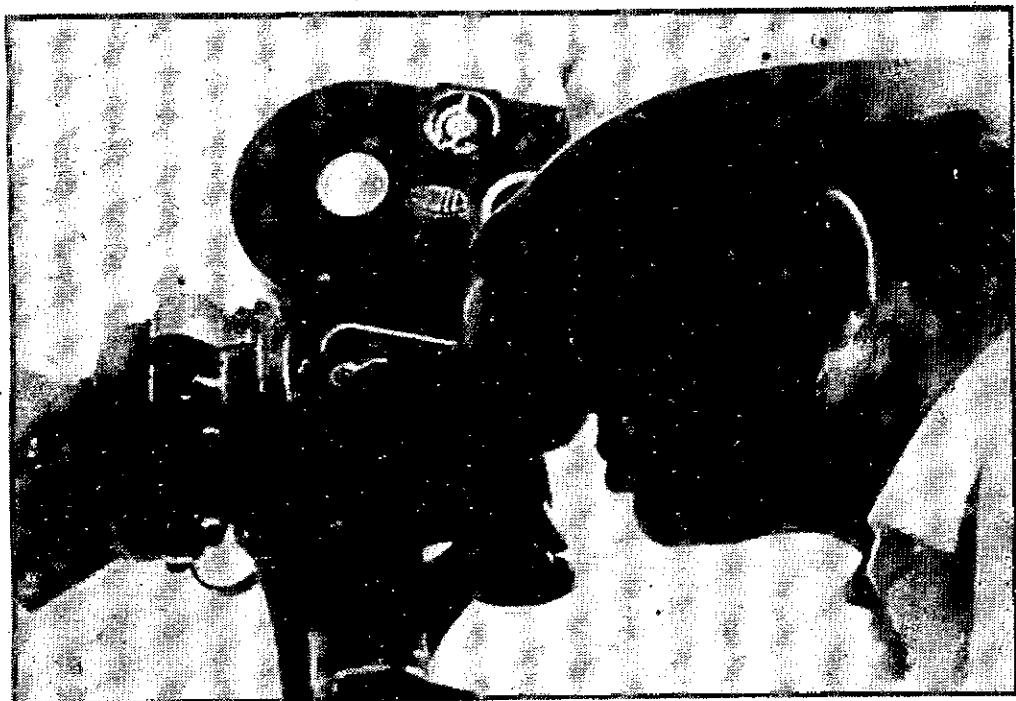
यह पुरस्कार अभिनय, निर्देशन, निर्माण, पार्श्वगायन, संगीत रचना और गीत रचना क्षेत्रों में विशिष्ट योगदान के लिए दिया गया है।

राष्ट्रीय एकता पुरस्कार

भारत जैसे विशाल तथा विविध भाषाओं, संस्कृति और जातियों वाले देश में राष्ट्रीय एकता सबसे बड़ी आवश्यकता है। सिनेमा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने 1965 में राष्ट्रीय एकता पर आधारित सर्वोत्कृष्ट फीचर फिल्मों के लिए पुरस्कार शुरू किया। इस पुरस्कार को अब 'नरगिस दत्त राष्ट्रीय एकता पर सर्वोत्कृष्ट फिल्म का पुरस्कार' कहा जाता है। इसके अंतर्गत रजत कमल और फिल्म निर्माता को 30 हजार रुपये तथा निर्देशक को 15 हजार रुपये नकद पुरस्कार के रूप में दिये जाते हैं। अब तक 24 फीचर



वी. शान्तराम



तपन सिंह

फिल्मों को यह पुरस्कार दिया जा चुका है। भाषाओं के अनुसार इनकी संख्या इस प्रकार हैः—हिन्दी-9, मलयालम-5, मराठी-2, कन्नड़-2, तेलुगु-2, तमिल-1, बंगला-1, उडिया-1, गुजराती-1, ये पुरस्कार जीतने वाली फिल्में ये हैं :

1. शहीद (हिन्दी), 1865, निर्माता—केवल पी. कश्यप, निर्देशक—एस. रामशर्मा
2. सुभाष चंद्र (बंगला), 1966, निर्माता—ए. के. बनर्जी, निर्देशक—पीयूष बोस (1967 में कोई पुरस्कार नहीं दिया गया)
3. जन्मभूमि (मलयालम), 1968, निर्माता—रूप रेखा (मद्रास), निर्देशक—जे. शंकरमंगलम
4. सात हिन्दुस्तानी (हिन्दी), 1969, निर्माता और निर्देशक—ख्वाजा अहमद अब्बास
5. तुराबकाता वादित (मलयालम), 1970, निर्माता—ए. रघुराथ, निर्देशक—पी. भास्करन
6. दो बूद़ पानी (हिन्दी), 1971, निर्माता और निर्देशक—ख्वाजा अहमद अब्बास
7. अछानुम बाप्पायुम (मलयालम), 1972, निर्माता—सी.सी. बेबी निर्देशक—के.एस. सेतुमहादेवन
8. गरम हवा (हिन्दी), 1973, निर्माता—यूनिट तीन निर्देशक—एम. एस. सत्यं
9. परिणय (हिन्दी), 1974, निर्माता—समान्तर चित्रा निर्देशक—कार्तिलाल राठौड़ (1975, 1976 और 1977 में कोई पुरस्कार नहीं दिया गया।)
10. ग्रहण (कन्नड़), 1978, निर्माता—हर्ष पिंचर्स, निर्देशक—टी. एस. नागभरणम

इस फिल्म को ग्रामीण भारत में जातीय संघर्ष के सशक्त और सही चित्रण के लिए

पुरस्कार दिया गया। यह फिल्म उन झड़ियों को उजागर करती है जिन्होंने दलितों और पूरे ग्रामीण समाज को जकड़ रखा है। इन झड़ियों ने गरीबों की आर्थिक विवशताओं को और बढ़ा दिया है। सिनेमाकला की दृष्टि से यह अत्यंत प्रभावशाली फिल्म है।

फिल्मों के मूल्यांकन के तरहके में भी परिवर्तन हुआ है। कुछ समय तक बन्धई, मद्रास और कलकत्ता में क्षेत्रीय समितियां हुआ करती थीं। दिल्ली स्थित केन्द्रीय समिति इन क्षेत्रीय समितियों की सिफारिशों पर विचार करती थी। लेकिन बाद में यह प्रणाली बदल दी गयी और अब राष्ट्रीय फिल्म समारोह का निर्णायिक मंडल करीब 100 फीचर फिल्मों को देखकर पुरस्कारों का फैसला करता है।

सिनेमा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने 1965 में राष्ट्रीय एकता पर आधारित सर्वोत्कृष्ट फीचर फिल्मों के लिए पुरस्कार शुरू किया।

11. 22 जून, 1897 (मराठी), 1980, निर्माता—नचिकेता पटवर्धन निर्देशक—नचिकेता पटवर्धन और जयू पटवर्धन

चापेकर बंधुओं द्वारा पूना में 22 जून, 1897 को वाल्टर रैड की हत्या की घटना को बड़े विश्लेषणात्मक तरीके से प्रस्तुत करने के लिए इस फिल्म में रंग, स्थान, वेश-भूषा और वास्तविक जीवन से मिलते-जुलते पात्रों का चयन बड़ी कुशलता से किया गया है। और देश के लिए जीवन का बलिदान करने वाले चापेकर बंधुओं के देश प्रेम की प्रेरणा देने वाले सदेश को बड़ी ही सशक्त तरीके से प्रस्तुत किया गया है। फिल्म में कुछ गिने-चुने संवाद हैं जो बहुत ही प्रभावशाली हैं लेकिन इसमें मौन रहने वाले प्रसंग और भी मार्मिक हैं।

12. भवानी भवई (गुजराती), 1981, निर्माता—संचार फिल्म को. आपेरेटिव सोसाइटी, निर्देशक—केतन मेहता

एक लोक-कथा के माध्यम से छुआँसूत की कुप्रथा का इतिहास बताने के लिए यह पुरस्कार दिया गया। इसमें अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए अँसूत समझे जाने वाले लोगों के संघर्ष को विभिन्न मंचीय कलाओं के माध्यम से सार्थक सामाजिक सम्प्रेषण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

13. सप्तपदी (तेलुगु), 1982, निर्माता—भमावरापू निर्देशक—काशीनाथुरि विश्वनाथ

सामाजिक झड़ियों से कमजोर वर्गों के लोगों के साथ होने वाले घोर अन्याय की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिए इस फिल्म को पुरस्कार दिया गया। इसमें एक कट्टर ब्राह्मण और एक हरिजन से प्यार करने वाली उसकी बेटी के बीच संघर्ष को दिखाया गया है। फिल्म में जो युवितसंगत समाधान प्रस्तुत किया गया है, वह देश की उत्कृष्ट धर्मनिरपेक्ष परम्परा के अनुरूप है।

14. आरूडम (मलयालम), 1983, निर्माता—रासम्मा जॉर्ज निर्देशक—आई वी. शशि

कमजोर वर्गों के लोगों की दुर्दशा को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित करने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

15. आदमी और औरत (हिन्दी), 1984, निर्माता—दूरदर्शन निर्देशक—तपन सिन्हा

विभिन्न समुदायों के बीच प्रेम और सदूभाव बनाए रखने की आवश्यकता को बड़ी सरलता और स्पष्टता से चित्रित करने के लिए इस फिल्म को पुरस्कार दिया गया।

16. सूखा (हिन्दी), 1985, निर्माता और निर्देशक—एम.एस. सत्यू

मानवता को एकता के सूत्र में पिरोने वाले बुनियादी मानव मूल्यों के ईमानदारी से चित्रण के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

17. श्री नारायण गुरु (मलयोलम),
निर्माता—ए. जाफर
1986 निर्देशक—पी. ए. बैकर

एक महान समाज-सुधारक के जीवन के माध्यम से मनुष्य को एक जाति, एक धर्म और एक ही भगवान के सार्वभौमिक मूल्यों की शिक्षा देने के लिए इस फ़िल्म को पुरस्कार दिया गया।

18. तमस (हिन्दी), 1988, निर्माता—ब्लेज एंटरटेनमेंट प्रा. लि.,
निर्देशक—गोविन्द निहलानी

विभाजन के समय पंजाब के एक गांव में साम्प्रदायिकता की आग भड़काने वाली घटनाओं को बेलाग तरीके से प्रस्तुत करने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

दुंडिराज गोविन्द फाल्के भारतीय सिनेमा के दुःख एक महान अग्रदृश थे। उन्होंने ललित कला की सातवीं विधा माने जाने वाले सिनेमा के लगभग हर क्षेत्र के लिए बुनियादी मानक स्थापित किये। वे अपनी फ़िल्मों के लिए खुद पटकथा लिखते थे। फ़िल्मों का चित्रांकन, कला-निर्देशन, संपादन और कलाकारों की वेशभूषा का चयन भी वे स्वयं करते थे। यही नहीं, फ़िल्मों की प्रोसेसिंग, प्रिंटिंग, डेवलपिंग जैसे तकनीकी कार्यों के साथ-साथ वे थियेटर में फ़िल्मों को दिखाने और उनके वितरण की भी व्यवस्था करते थे। इस हरफ़नमौला फ़िल्मकार ने भारत में फ़िल्म-निर्माण की बुनियाद रखी और चतुर्चित्र कला को मनोरंजन की एक विधा तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का माध्यम बनाया।

19. रुद्रवीणा (तेलुगु), 1988, निर्माता—के. नगेन्द्र बाबू,
निर्देशक—के. बालाचंद्र

संगीत के माध्यम से सामाजिक एकीकरण और ग्रामीण जनसमुदाय में व्याप्त कुरीतियों



डॉ राजेन्द्र प्रसाद द्वारा एस. एस. वासन को प्रथम स्टेट अवार्ड प्रदान करते हुए

को दूर कर सांस्कृतिक क्रांति लाने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

20. संत शिशुनाल शरीफ (कन्नड़), 1990,
निर्माता—यजमान एंटरप्राइज
निर्देशक—टी. एस. नागभरणम

हिन्दू गुरु वाले एक प्रसिद्ध मुसलमान संत के जीवन और काव्य के माध्यम से धर्मों की एकता का प्रतिपादन करने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

1991 में किसी भी फ़िल्म को पुरस्कार नहीं दिया गया।

21. आदि मीमांसा (उड़िया), 1992,
निर्माता-निर्देशक—ए. के. बींबर। सामान्य जीवन की घटनाओं के माध्यम से मानव मूल्यों की रक्षा और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

22. रोजा (तमिल), 1993, निर्माता—
कवितालयां प्रोडक्शन्स
निर्देशक—मणिरत्नम

एक भारतीय वैज्ञानिक के तथाकथित मुक्ति सेना द्वारा अपहरण और बाद में उसकी अपनी असामाजिक गतिविधियों की व्यर्थता महसूस करने की घटना को बड़े प्रभावशाली तरीके से पेश करने के लिए यह पुरस्कार दिया गया।

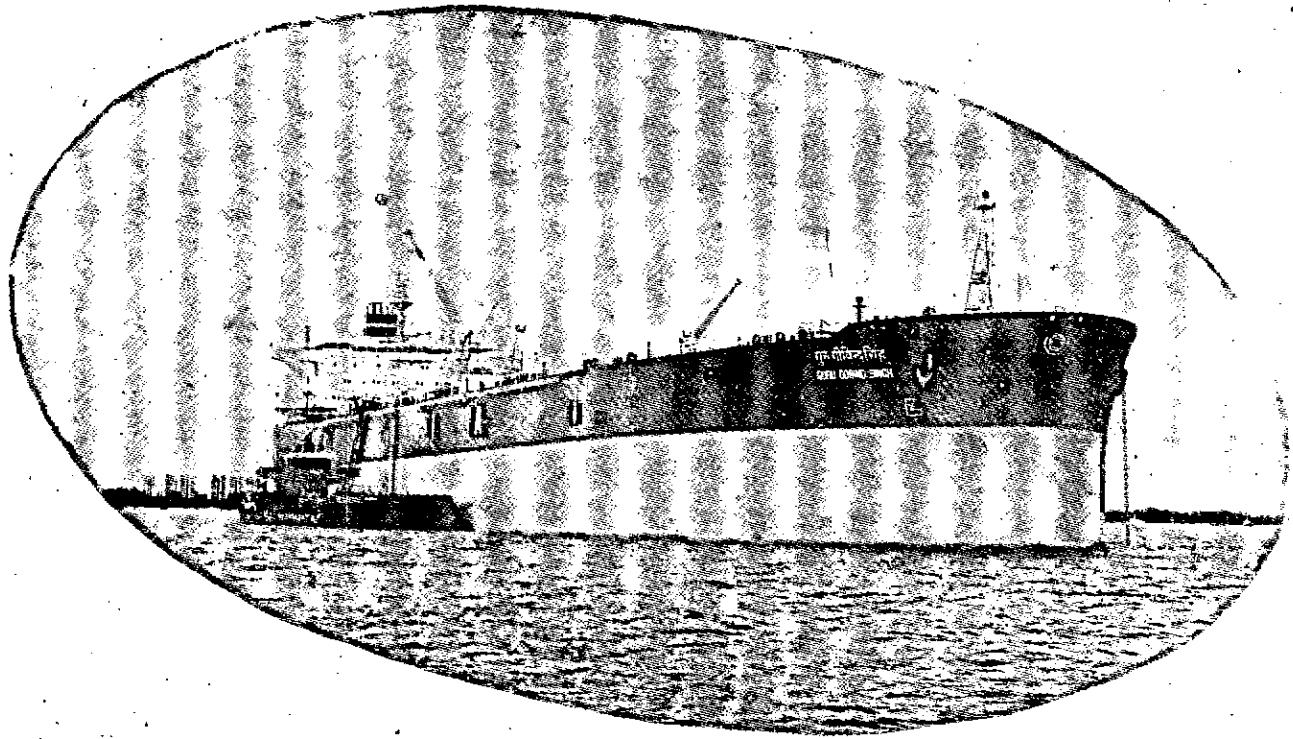
23. सरदार (हिन्दी), 1994, निर्माता—एच. एम. पटेल निर्देशक—केतन मेहता

राष्ट्रीयता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए परिवर्तन के दौर से गुजरते भारत की छवि प्रस्तुत करने के लिए यह पुरस्कार दिया गया। फ़िल्म में विविधताओं के बीच समन्वय स्थापित करके भारतीय राष्ट्रवाद की गाथा को महाकाव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

24. मुक्त (मराठी), 1995, निर्माता—अशोक महात्रे, निर्देशक—जग्बार पटेल

देश में जातीय उत्पीड़न को बड़ी ही नाटकीय शैली में प्रस्तुत करने और भारतीय दलितों के बीच एकजुटता को सार्वभौमिक आयाम देने के लिए इस फ़िल्म को पुरस्कृत किया गया। ■

आत्मनिर्भरता की दिशा में..



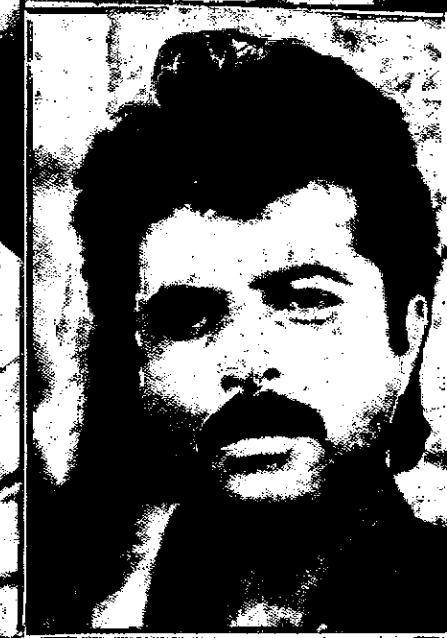
भारतीय नौवहन निगम लिमिटेड

राष्ट्रीय जहाजरानी नीति का मूल उद्देश्य है कि भारतीय जहाजरानी का तेजी से विकास करके आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ना है।

भारत सरकार का प्रतिष्ठान शिपिंग कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया अपने विस्तार, वैविध्य और आधुनिकीकरण के विशाल कार्यक्रम द्वारा भारतीय जहाजरानी की प्रगति और विकास में एक निर्णायक भूमिका निभा रहा है। कॉरपोरेशन ने अपने देश के निर्यात प्रयासों में सहयोग देने के लिए कई प्रवर्तनात्मक मालवाहक सेवाएं शुरू की हैं और उसके पास अन्य सभी भारतीय जहाजी कंपनियों की तुलना में मालवाहक जहाजरानी का सबसे व्यापक और विशाल बेड़ा है।

हमारे देश और हमारी जनता के इस प्रतिष्ठान शिपिंग कॉरपोरेशन के लिए यह गौरव की बात है कि अब वह दुनिया की सबसे बड़ी जहाजी कंपनियों में से एक है।

• 'शिपिंग हाउस', 245 मैडम कामा रोड, बम्बई 400 021 • विश्व के सभी प्रमुख बंदरगाहों पर एजेन्ट हैं।





फिल्म अभिनेता दिलीप कुमार राष्ट्रपति से 'दादा साहब काल्के' (1994) पुरस्कार प्राप्त करते हुए